

ज्ञानपीठ-लोकोदय ग्रन्थमाला हिन्दी ग्रन्थाङ्क ९७

बाजे पायलियाके घुँघरू

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण
१९५७ ई०
मूल्य चार रुपया

मुद्रक
इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

कौन कहाँ ?

यह क्या पढ़ रहे हैं आप ?

एक बार मैं गांधीजीके निकट बैठा था और बातचीत प्रार्थनापर चल रही थी। वे बोले——प्रार्थनाका एक चमत्कार यह है कि हमारे सामने जब विकट समस्याएँ होती हैं और हमारी शक्तियाँ उन्हें सुलझानेमें अपनेको असमर्थ पाती हैं, हम सरल भावसे प्रार्थना करें, तो परिस्थितियोंमें बिना किसी प्रयत्नके ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि वे समस्याएँ आप ही आप सुलझ जाती हैं।

मैंने नम्रतासे पूछा——बापू, बिना किसी प्रयत्नके इस परिवर्तनका रहस्य क्या है ?

बापूने कहा——यह बात एक और एक दोकी भाषामें नहीं कही जा सकती, पर सत्य है। अपनी भाषामें मैं इसे ईश्वरकी कृपा मानता हूँ, पर मनोवैज्ञानिक रूपमें भी इसपर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

× × ×

नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण परमहंसके निकट गये, तो नास्तिक थे, पर लौटे, तो आस्तिक होकर।

मैं अनेक बार अशान्तिके क्षणोंमें लहलहाते खेतोंपर गया हूँ और वहाँसे प्रफुल्ल होकर लौटा हूँ।

यह सब क्या है ?

यह सब शुभ संपर्ककी शक्ति है।

अत्यन्त नम्रताके साथ मैं कहना चाहता हूँ कि इन पृष्ठोंमें वही शुभ संपर्क हैं, जो अशान्तिमें शान्ति, नीरसतामें सरसता और निराशामें आशाके भाव देकर मनको बिना किसी प्रयत्नके यों बदल देता है कि जीवन अपने आप पहलेसे अच्छा और आनन्दपूर्ण हो जाता है।

एक ही बात हमें दो आदमी कहते हैं, पर एककी बातका हमपर कोई असर नहीं होता और दूसरेकी बातका हमें तुरन्त विश्वास हो जाता है। यह क्यों?

यह इसलिए कि एक कहता है बुद्धिसे और दूसरा हृदयसे। बुद्धि है अविश्वासी, अनिश्चयात्मक और तार्किक, इसलिए बुद्धिकी बात जल्दी नहीं उतरती, देरमें उतरती है और उतरकर भी यों नहीं पचती कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे, पर हृदय है विश्वासी और सरल, इसलिए हृदयकी बात हृदयमें झट उतर जाती है और यों पच जाती है कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे।

इन लेखोंमें न बुद्धिके गोरखधन्धे हैं, न सूखे ज्ञानके अम्बार; सरल हृदयकी जिज्ञासाएँ हैं, चिन्तन हैं, अध्ययन हैं, प्रयत्न हैं, समाधान हैं, सफलताएँ हैं, अनुभव हैं।

इसीलिए ये पाठकको बहसमें निरुत्तर नहीं करते, सरस बातें करते हैं; उसके ज्ञानको झकझोरते नहीं, जीवनको बदलते हैं और यह सब भी दबाव या कड़ाईसे नहीं, मिठासमें मिसरीकी तरह—सब यों कि पता नहीं चलता और जीवनमें परिवर्तन हो जाता है, वह ऊँचा उठ जाता है, जीवनकी पायलियाके घुँघरू बज उठते हैं, उसमें सात्त्विक आनन्द भर जाता है!

बस यहीं ये लेख इस तरहके दूसरे लेखोंसे भिन्न हैं।

इसी शृंखलाके कुछ लेख 'जिन्दगी मुसकराई'में छपे थे और कुछ ये हैं। इनमें मेरी चौथाई शताब्दीकी जीवन-साधना है और यह मेरा अभिमान नहीं, संतोष है कि देशकी उठ-उभरती पीढ़ियोंको मैं यह उपहार दे सका।

विकास, सहारनपुर — कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथोंमें

- मैं गांधी-जवाहरलालकी जिस पीढ़ीमें जन्मा, पला, बड़ा हुआ और जिया, वह भारतकी स्वतन्त्रताके सिपाहियोंकी पीढ़ी थी।
- इस पीढ़ीकी जवानी लाठी चार्जोंकी धमाधम, गोलीकाण्डोंकी धायँ-धायँ और हथकड़ी-बेड़ियोंकी छनाछनमें बीती और बुढ़ापा बीत रहा है भावी पीढ़ियोंके लिए सुख-साधन संजोनेमें।
- क्या ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं?
- ना, मैं नहीं मानता यह। ये दोनों कार्य एक ही जीवनकी परिपूर्णताके तन्त्र-मन्त्र हैं, पर मैं मानता हूँ कि सांसारिक वैभवकी परिपूर्णता होते भी जीवनकी परिपूर्णता अपूर्ण है, यदि मानसिक परिपूर्णता न हो।
- मेरा विश्वास है कि उग-उभरती पीढ़ियोंकी मानसिक पूर्णताके लिए ये लेख अमोल रसायन हैं; तो अपने पूरे जीवनकी यह कमाई मैं अपनी उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथों आनन्द और शुभ कामनाओंके साथ समर्पित करता हूँ, क्योंकि अपनी मृत्युके बाद भी उन्हींमें तो जीवनका आनन्द भोगूँगा!

क० ला० 'प्रभाकर'

यह किसका सिनेमा है ?

[१]

लम्बी बीमारीसे उठकर अपने ही नगरकी नहरपर उस दिन गया, तो लगा जैसे मेरा पुनर्जन्म हुआ है। चारों ओर अजीब-सा लगता था।

रास्तेमें देखा एक नया सिनेमा-घर बन रहा है। जिस मित्रकी मोटरमें घूमने गया था, उनसे ही पूछा—"यह किसका सिनेमा बन रहा है भाई ?"

बोले—"यह रण्डीका सिनेमा है।"

"रण्डीका ?" मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा—"फिर तुमसे अच्छी तो यह रण्डी ही रही कि कमाईसे इतना बड़ा सिनेमा बना लिया। तुम्हारी तो दुकान भी अभीतक किरायेकी है।"

वे भी हँस गये, बात पूरी, पर पूरी होकर भी इसने मेरे मनमें जिज्ञासा-का एक जाल-सा पूर दिया। एक रण्डीने इस नगरमें इतना रुपया कमा लिया कि खा-पीकर वह इतना रुपया जोड़ सकी कि लाख रुपये लगाकर यह सिनेमा बना-खड़ी की। कुछ न कुछ तो पास भी बचा रक्खा होगा और १।। लाख जिसके पास है, उसने खाने-पीनेमें भी ३ लाख खर्चे ही होंगे, तो एक रण्डीने ५ लाख रुपये कमाये। इन ५ लाखके पीछे कितने उजड़े और उदास घरोंकी कहानियाँ कसक रही हैं, इसे कौन जान सकता है ? और यह रण्डी, जो स्वयं सबसे बड़ी कसक-कहानी है इस समाज-व्यवस्थाकी !!

[२]

कुछ दिन बाद मैं स्वास्थ्य-सुधारके लिए पहाड़ चला गया। वहाँ एक दिन एक बैंचपर बैठा, मैं सामनेका पहाड़ देख रहा था कि पासकी

बैंचपर एक सज्जन आकर बैठ गये और कोई पुस्तक पढ़ने लगे—एकदम गंभीर और डूबे हुए।

तभी उधर आ निकले एक और सज्जन—कोट-बूट-धारी और उन पढ़न्तू मित्रके पास पहुँचते-न-पहुँचते बोले—"मैं तो तुम्हारे कमरेपर गया था। नौकरसे मालूम हुआ कि तुम इधर घूमने गये हो। मैंने सोचा—चलो, उधर ही चलूँ, कहीं न कहीं मुलाकात हो ही जायगी ?"

दूर बैठे ही बैठे मैंने महसूस किया कि उन्हें इनका यहाँ आना अच्छा नहीं लगा। तभी उड़ती-उखड़ती-सी आवाजमें वे बोले—"हाँ, मैं इधर चला आया था।"

मनमें सोचा—इस 'हाँ' का अर्थ है कि बड़ी बेवकूफी की, जो नौकरको अपना पता दे आया कि भूतकी तरह आप मेरे पीछे यहाँ आ धमके। मुझे लगा कि ये आनेवाले सज्जन, इनसे कोई ऐसी बात चाहते हैं, जिसे यह पसंद नहीं करते।

बैंचपर बैठते-बैठते उन्होंने कहा—"तो फिर क्या सोचा तुमने अपनी पालिसीके बारेमें ? और सोचना क्या है, लो, फार्म भर दो।"

अरे, यह तो बीमा कम्पनीका एजेण्ट है। बीमा-एजेण्ट, अपने समयका ऐसा आदमी जिसे कोई पसंद नहीं करता, पर जो बिना बुलाये भी किसीके घर जानेमें नहीं झिझकता !

[३]

स्वस्थ होकर पहाड़से लौट आया, तो एक दिन मेरे एक परिचित किसी अपरिचितको साथ लिये आये और बोले—"ये मेरे मित्र हैं भाई साहब, और आपकी मदद चाहते हैं।" ये सज्जन होंगे कोई ५० वर्षके। चेहरेपर सौम्यता, तो गलेमें मिठास। बोले—"बनता-बनता मेरा सिनेमा रुक गया है। आप जानें, ये परमिट-कन्ट्रोलके दिन हैं—बिना सिफारिश कोई काम

नहीं करता, पर बरसात ऊपरसे आ रही है, अब छत न पड़ी तो सारी लागत पानीमें बह जायगी और हम कहींके न रहेंगे। आप टी. आर. ओ. से कहकर हमें थोड़ा-सा लोहा और सीमेण्ट दिला दें, तो हमारा काम बन जाय।"

मैंने कोशिश करनेकी बात कही और पूछा—"कौन-सा सिनेमा बना रहे हैं आप?"

बोले—"नहरकी सड़कपर बना रहा हूँ। बस छत पड़ी कि तैयार हुआ। तब दिखाऊँगा आपको।"

सुनकर मुझे याद आगई, अपने मित्रकी बात—"यह रण्डीका सिनेमा है।"

टटोलते-से पूछा—"पर सुना था, वह सिनेमा तो कोई बहन बना रही हैं?"

"जी हाँ!" वे खुश होकर बोले—"वो मेरी बीबी हैं। मैं तो एक ग़रीब आदमी हूँ, पर उनके पास थोड़ी-सी जमा-पूंजी है। वही उसे बना रही हैं।"

वे चले गये और मुझे उलझा गये। मैं सोचता रहा—मित्र कहते हैं, यह रण्डीका सिनेमा है, ये हज़रत कहते हैं सिनेमा मेरी बीबी बना रही है!!

मैं उठकर सिनेमाकी ओर गया। म्युनिसिपैल्टीका भंगी झाड़ू लगा रहा था, उससे पूछा—"यह किसका सिनेमा बन रहा है चौधरी साहब?" बोला—"यह रण्डीका सिनेमा है बाबूजी!"

तभी उधरसे निकले म्युनिसिपल बोर्डके एक मेम्बर। मैंने कहा—"आपके वार्डमें तो यह बहुत शानदार सिनेमा बन रहा है—आप ही बना रहे हैं क्या?"

बोले—"नहीं जी, यह तो किसी रण्डीने बनाया है। हम क्या बना-येंगे सिनेमा, गुज़र ही मुश्किलसे हो रही है!"

मैं लौट आया। अजीब बात है कि भंगी और मेम्बर साहब, दोनों कहते हैं, यह किसी रण्डीका सिनेमा है और वे साहब फ़र्माते हैं कि मेरी बीबी यह सिनेमा बना रही है। क्या सारा समाज झूठा है और बस वे ही सच्चे हैं?

[४]

तीसरे दिन अपनी दरख्वास्त लिये वे आ पहुँचे। मैं रण्डी और बीबी-के झमेलेमें उलझा था—हम बातोंमें ढल गये और जो कुछ हाथ आया, यह है—

मा और बेटी। मा ढलती हुई, तो बेटी उभरती हुई, जिसकी उम्र नई, रूप नया, नाम नया, हर बात नई और ये अभी-अभी गाहकों दफ़नाकर निमटे एक नौजवान, जिनकी उम्र नई, रूप नया, चाव नये, हर बात नई और बापकी कमाई दौलत पास! वे दोनों वेश्याएँ, यह आज़ाद रईस। उधर एक महा घाघ, तो दूसरी बछेरी—एकका इशारा, तो दूसरीका उस्तरा और इधर वह अलमस्त छैला, जो पिये गया और दिये गया। बस ५, ७ बरसोंमें ही ऐसी हजामत बनी कि पासमें दमड़ी नहीं, पर दिलमें अरमानोंके अभी अम्बार।

इनके लिए वह घड़ी नज़दीक, जब उस्तादजी सारंगीके गज़से पीटकर, धकियाते हुए ज़ीनेसे नीचे उतार दें और दरवाज़ा इतने ज़ोरसे बंद करें कि उसके फिर खुलनेकी उम्मीदका तार ही टूट जाये, पर घाघ माके सामने यह सूरजकी तरह साफ़ कि खूँटा ही बछेरीसे नहीं, उसकी बछेरी भी खूँटेसे उलझी हुई है।

वेश्या होकर भी वह मा और मा समझदार, जो अपने पेशेके धोखेको

पूरी तरह भोग चुकी। उसने दोनोंको टिटकारियाँ दीं, टंकोरा-झकोरा, स्याह-सफ़ेद दिखाया और एक दिन मजबूत गाँठमें स्वयं बाँध दिया। मा एक दिन दुनियासे उठ गई और जन्नत पहुँची, तो जिन्दगीके रजिस्टरमें उसने देखा, इस गाँठमें उसके सब गुनाह बँध गये थे !

और ये दोनों ? इनके लिए तो अब घर ही स्वर्ग था—इनकी जन्नत आसमानमें नहीं, धरतीपर, इन्हींके आँगनमें थी।

धन इनके पास तब रहा नहीं था, कुछ रूपके भी ये लच्छे न थे, फिर इनमें वह क्या था, जो एक चमकती परीको पत्नी बना पाया ? प्रश्न उठा, पर प्रश्न ही रहा और वे उठकर चले गये। मैं सोचता रहा—एक वेश्याने उस पुरुषको अपने जीवनकी बागडोर पकड़ा दी, जिसके पास कुछ न रहा था, जो उसके ही द्वारा लुट चुका था; क्या यह दया है ? या यह आत्म-समर्पण है, पुरुषके सर्वस्व समर्पणके बदलेमें किया गया, नारीका आत्म-समर्पण ?

[५]

सिनेमा बन गया और उसमें तस्वीरें दिखाई जाने लगीं। एक दिन परिवार सहित मैं भी निमंत्रित था। समयपर हम पहुँचे, तो वे ही सज्जन हमें खड़े मिले। बॉक्समें हमें बैठाकर वे चले आये और थोड़ी देरमें एक स्त्रीके साथ लौटे।

परिचयकी भाषा यह थी—"लीजिए, ये भी आगईं आपके साथ सिनेमा देखने—इन्होंने ही आपको आज यहाँ तशरीफ़ लानेकी दावत भिजवाई थी।" वे उन्हें बैठाकर चले गये। मैंने समझा उन्हें कोई जरूरी काम होगा, पर वे थोड़ी देर बाद आये—पत्नीकी ... पान हमने खाये। वे बोलीं—मुझे ... है। सुनते ही वे फिर चले गये और उनके पानोंकी डिबिया उन्हें दे गये।

'इण्टरवैल' परदेपर और वे दरवाजेपर, चायवाला साथ। हमने चाय पी, पान खाये। वे उस गरम चादरको पत्नीके कन्धोंपर डाल, फिर चले गये और खेल खत्म हुआ कि वे फिर दरवाजेपर—पान साथ!

चान्दनेमें दोनोंको एक साथ गौरसे देखा। नारीमें सरलता भी है, बड़प्पन भी। उसकी मुसकानमें आकर्षण है, जो बेधक न होकर मोहक है। बातचीतमें वे खुली हैं, पर इस खुलेपनमें कहीं भी हल्कापन नहीं, शालीनता ही है। मैंने उन्हें बड़ी बहन कहा, तो पूरे मनसे ही कहा। पुरुषमें सौम्यता है। वे धीमे बोलते हैं, पर पूरी मिठासके साथ। उनकी हर बातमें एक संयम है।

वे चले गये, मैं अपने प्रश्नोंका उत्तर पा गया। एक वेश्या: उसके पास जो आता है, वही अपनी बात मनवानेके लिए। ठीक है, वह पैसा फेंकता ही इसलिए है कि उसकी हर इच्छाको हाँ सुनाई दे। पैसेकी शक्तिके सामने सिर झुकानेकी शिक्षा वेश्याको दी जाती है, वह सिर झुकाती है, पर उसके हृदयकी प्यास उससे पूछती है—"क्या इस संसारमें ऐसा कोई नहीं, जो मेरी इच्छाके सामने भी सर झुकाये? अपने सामने मेरी इच्छाको महत्त्व दे?"

इस पुरुषमें यह गुण है कि अपनेको भूलकर, दूसरेका ध्यान रखे और यही वह रसायन है, जिसने वेश्याको पत्नी बना दिया।

[६]

यों मेरे सब प्रश्नोंका समाधान हो गया, पर तभी एक नये प्रश्नने मुझे आ घेरा—गिरना आसान है, गिरकर उठना कठिन, यह नारी गिरी, गिरनेकी हदतक गिरी और उठ गई—उठनेके ऊँचे-से-ऊँचे शिखरतक।

एक स्वस्थ दर्शकके मनमें गिरावटके लिए दया और उठानके लिए प्रशंसाकी भावना उठनी चाहिए, पर यह क्या बात है कि वेश्याके गृहिणी

बननेपर भी हमारे समाजका एक शिक्षित व्यापारी और अशिक्षित भंगी बरसों बीत जानेपर भी उसके गृहिणीपनको स्वीकार नहीं करता और वेश्या-पनको भूलता नहीं; जब कि वेश्यापन पहला और गृहिणीपन बादका है—पहला पाठ कण्ठ और बादका पाठ धूं-धाँ, यह कैसी स्मृति है, हमारे समाजकी !?

और तभी याद आगये मुझे उस पहाड़ी बेंचपर बैठे बातें करते वे दोनों परिचित, जिनमें एक बीमा एजेण्ट। बीमा-एजेण्ट; जिसे हमारे देशमें अभी कोई पसंद नहीं करता !

और यहीं मनमें फूट-पनपा एक नया प्रश्न—भला क्यों ?

बीमा-एजेण्ट हमारा बीमा करता है, तो उसमें हमारा ही लाभ है। हमें बुढ़ापेमें इकट्ठा रुपया मिल जाता है, जो वैसे हम जमा न कर पाते। वह हमें बुढ़ापेकी बेफ़िक्री देता है और मौत बेवक्त आ निकले, तो बाल-बच्चोंको बचाता है। बीमामें हमारा, हमारे परिवारका, हमारे देशका, लाभ ही लाभ है, फिर बीमा करनेवाला हमें क्यों अच्छा नहीं लगता ?

—क्योंकि हमारी आँखें देखती हैं कि इस बीमामें उसे लाभ है और हमारा दिमाग़ सोचता है कि वह उस लाभके लिए ही हमारे पास आया है, तो फिर वही वेश्यावाली बात कि उसका गृहिणी बनना हमारे दिल-दिमाग़को नहीं छू पाता और उसका वेश्या रूप ही हमपर छाया रहता है।

लोक-कथामें कहा गया है कि दयासे द्रवित हो, नारद मुनिने कुबड़ी बुढ़ियासे कहा—"आ बुढ़िया, तेरा कूबड़ अच्छा कर दूँ।"

बुढ़ियाने कहा—"बाबा, दयालु हुए हो, तो मेरा कूबड़ रहने दो, मेरे पड़ौसियोंकी कमरमें कूबड़ हो जानेका वरदान दो।"

अब बाबा भौंचक ! बोले—"उनकी कमरमें कूबड़ होनेसे तुझे भला क्या फ़ायदा ? तेरी कमर तो झुकी-की-झुकी ही रही ?"

बुढ़िया तमककर बोली—"अरे बाबा, मैं भी एक बार देख लूँ कि ये मुझे किस तरह देखते हैं !"

यही दोष-दर्शनकी वृत्ति सारे समाजपर छाई है कि हमें अपने लाभ-से ज्यादा दूसरेकी हानिकी और दूसरेके गुणोंकी अपेक्षा उसके दोषोंकी ही अधिक चिन्ता है। मक्खी नूरजहाँके सुरभित शरीरमें भी चोटकी जगह ही तो खोजती है ?

एक दूसरी लोक-कथामें कहा है— दयालु हो, कीचड़में पड़े शूकरसे नारदने कहा—"चल, तुझे स्वर्ग ले चलूँ !"

शूकरने कहा—"क्या है तुम्हारे स्वर्गमें बाबा ?"

"स्वर्गमें ? अरे मूर्ख, स्वर्गमें सब कुछ है। खानेको बत्तीस भोग, छत्तीसों व्यंजन, देखनेको नृत्य, सुननेको संगीत, सेवाको अप्सराएं—क्या नहीं है हमारे स्वर्गमें ? चल, उठ !"

शूकर उठा, पर उठते-उठते उसने पूछा—"महाराज, आपके स्वर्गमें कुरड़ियाँ और कीचड़के गड्ढे भी हैं या नहीं ?"

बाबा हँसे—"अरे भोंदू ! स्वर्गमें इनका क्या काम ?"

अपनी कीचड़में फिरसे लेटते हुए शूकरने कहा—"फिर वहाँ है ही क्या खाक ?"

उस दिन एक विद्वान् पधारे। एक ऐसी संस्थाके कार्यकर्ता, जो भारतका सांस्कृतिक केन्द्र कहलाती है। कुछ दिन पहले मैंने एक ऐसे व्यक्तिपर जीवन-परिचय लिखा था, जो समयकी बात, एक ऊँचे राज-पदपर भी प्रतिष्ठित हैं। उसकी चर्चा चली, तो बोले—"आपके पत्रोंको उनसे कुछ लाभ पहुँचता-होगा !"

क्या मतलब ? यही कि बिना मतलब किसीकी तारीफ़ कोई क्यों करेगा ? मतलबसे भी तारीफ़ की जाती है, यह सच है, पर हमें सब जगह

और सबसे पहले वही क्यों दिखाई दे ? मैंने सोचा—उस शूकर और इस विद्वान्में क्या अंतर है ?

लोक-गाथामें इस क्योंका उत्तर है। गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे कहा—"कोई दुर्जन खोज लाओ।" वह सब जगह घूम आया, उसे कहीं कोई दुर्जन मिला ही नहीं।"

उन्होंने दुर्योधनसे कहा—"कोई सज्जन खोज लाओ।" वह सब जगह घूम आया, उसे कोई सज्जन मिला ही नहीं।

क्या बात हुई यह ? यही बात कि हमें अपना आपा ही सब जगह दिखाई देता है। हममें दोष हैं, हमें वे सब जगह दिखाई देते हैं। हम उन्हें ही सब जगह देखते हैं, इसलिए वे हममें बराबर बढ़ रहे हैं। जीवन दोष-गुणोंका ताना-बाना है। कौन है जिसमें कमी नहीं—धोतीके भीतर सब नंगे, पर दोष ही दोष दिखाई देना, पहले दोषपर ही दृष्टि जाना, हमारी दृष्टिका भंगापन है।

हम इस दोषसे बचें, दोषोंके रहते भी गुणोंको परखें, प्यार करें, तो पायें कि स्वयं हमारे भी दोष कम हो रहे हैं—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' गीता कहती है, जिसकी जिसमें श्रद्धा है, वह वही हो जाता है। हम गुणोंको परखें, उनमें श्रद्धा रखें, तो स्वयं गुणी होते चलें।

मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप बोतल न रक्खें ?

श्रीमती शान्तिदेवीजी भीतरके कमरेसे बाहर चौकमें आ रही थीं कि उनका पैर रास्तेमें रक्खी बोतलसे टकरा गया।

बोतल सरसोंके तेलकी। तेल बिखर गया, नाखूनमें सख्त चोट लगी। झल्लाकर छेदासे बोलीं—"अरे, तू जहाँ देखता है, वहीं चीज पटक देता है। यह बोतल रखनेकी जगह है? गधा कहींका!"

अवसरपारखी छेदाने अपनी बहूजीका पैर मसला, तेल समेटा और ग़लती मानी। हमारी शान्तिदेवीजी हैं बमभोला शिवशंकर; वे हँस पड़ीं और बात आई-गई हुई, पर इसके कोई दस पन्द्रह दिन बाद उसी स्थानपर उसी घटनाने एक नया रूप ले लिया।

छेदा भीतरके कमरेसे बाहर चौकमें आ रहा था कि उसका पैर रास्तेमें रक्खी बोतलसे टकरा गया। पैरमें चोट लगी, तेल बिखर गया, बोतल टूट गई। वह सम्भल ही रहा था कि झल्लाकर शान्तिदेवीजीने कहा—"अरे, आँख फोड़कर नहीं चला जाता तुझसे ?"

छेदा चन्ट-चतुर! जानता था कि बोतल आज रास्तेमें बहूजीने रक्खी है; इसलिए शोखीसे मुसकराते, कन-अँखियोंसे देखकर वह बोला—"बहूजी, मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप रास्तेमें बोतल न रक्खें ?"

समयकी बात; मैं दोनों दिन वहीं था, इसलिए छेदाके प्रश्नमें जो मीठा-पैना व्यंग था, उसे मैं ले पाया और बहुत जोरसे मेरी हँसी फूट पड़ी। मैंने कहा—"ठीक है, जब छेदा रास्तेमें बोतल रक्खे, तब चीजको ग़लत रखने-

का सिद्धांत माना जाय और जब वही काम खुद बहूजी करें, तो आँख फोड़कर चलनेका असूल लागू हो।"

बात हँसीकी थी, हँसीमें घुल-मिल गई, पर मैं देखता हूँ कि हमारे जीवनमें व्यापक रूपसे यह रोग फैला हुआ है कि हम हरेक घटनाको, हरेक प्रश्नको, अपने ही दृष्टिकोणसे देखें। रोग, मैं इसे कुछ मुहावरेके तौरपर नहीं कह रहा हूँ। यह सचमुच एक नैतिक रोग है, जो मनुष्यको मानसिक रूपसे काना बना देता है। काना; जिसकी एक आँख दुर्भाग्यसे फूट गई !

ओह, क्या बात याद आ गई। मेरे एक मित्र थे श्री ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु'। वे एक बार मुझे भी यात्रामें साथ ले गये। जहाँ गये, वहाँ उनके एक यजमान थे। निमन्त्रण था, हम दोनों उनके घर भोजन करने गये। अजीब बात कि श्रीमतीजीकी दाहिनी आँख बंद, तो श्रीमान्‌जीकी बाईं; दोनों काने ! मैं सोचता रहा कि दो कानियोंका गठबन्धन कर, यह एक पूर्णताकी रचना की गई है या दो पूर्णताएँ रोगके किसी 'को-आपरेटिव' आक्रमणसे दो अपूर्णताओंमें बदल गई हैं ?

भोजन बनता रहा, बातें चलती रहीं। बातों-बातोंमें जाने क्या बात हुई कि पति-पत्नीमें बात बढ़ गई और वे आपसमें भिड़ गये। लड़ाई बातों-बातोंकी, पर काफी पैनी। पतिको शायद उसके अहंकारने अचानक कहा—पत्नीकी यह हिम्मत और हिमाकत कि मेहमानोंके सामने तुझसे चोंच भिड़ाये !

वह भभक उठा और तमककर उसने कहा—'बेहया, बके जा रही है; कानी कहीं की !"

पत्नीने इस भभकको पिया-पचाया और तब अ[illegible]
ज़रा दबाकर, देखती आँखको कुछ कमान-सी अ[illegible]
कहा—"ओहो, हमने कोई दो आँखका भी न देखा !"

बस कुछ न पूछिए कि निशाना कहाँ बैठा। पति महाशय वहीं नहा गये और मुझे हँसी रोकना मुश्किल हो गया, तो मैं वहाँसे उठ भागा।

आपको भी सुन-पढ़कर हँसी आये, तो हँस लीजिए, पर बात तो सोचनेकी यह है कि क्या उन दोनोंकी तरह हम सब भी काने नहीं हैं और हमारा भी वही हाल नहीं है कि अपनी आँखको भूले दूसरेकी आँखपर निशाना लगाये हुए हैं?

अच्छा, यह कानापन क्या है। एक पिताके दो बेटे। खेलमें एक बन गया राम, तो दूसरा रावण, बस होने लगी तीरंदाजी। तीर मामूली तिल्लूके और धनुष बाँसकी खपच्चीका, पर तीर आखिर तीर! रावणका तीर रामजीकी दाईं आँखमें घुस गया और आँख जाती रही—हो गये काने। मतलब यह कि चोटसे या खोटसे, एक आँख बैठ गई और हो गये काने!

यह हुई बाहरी बात; कानेपनकी भीतरी भावना क्या है? एक लोक-कथा है कि माका काना बेटा हरद्वार गया। लौटा तो माने पूछा—"हरद्वारमें तुझे सबसे अच्छा क्या लगा रे?" गाँवके भोले बेटेने तबतक कहीं बाजार देखा नहीं था। बोला—"मा, हरद्वारका बाजार घूमता है।"

मा हरद्वार हो आई थी। बाजार घूमनेकी बात सुनकर वह घूम गई और चौंककर उसने पूछा—"कैसे घूमता है रे, हरद्वारका बाजार?"

बेटेने नये सिरेसे आश्चर्यमें डूबकर कहा—"मा, मैं हरकी पैड़ी नहाने गया, तो बाजार उधर था और नहाकर लौटा, तो इधर हो गया।" दुःख पाकर भी मा हँस पड़ी और उसने बेटेको छातीसे लगा लिया।

दूसरे शब्दोंमें कानेका अर्थ है—एकांगी; जो अधकचरा, सरसरा, इकहरा यानी अधूरा देखता है।

चलती रेल स्टेशनपर आ ठहरी। भीतर डब्बेमें कुछ मुसाफ़िर, जिनमें एकका नाम 'क' और डब्बेके बाहर दूसरा मुसाफ़िर, जिसका नाम 'ख'। ख चटखनी खोल भीतर आना चाहता है, पर क उसे कहता है—"अरे भाई, पीछे तमाम गाड़ी खाली पड़ी है, वहाँ क्यों नहीं चले जाते!"

'क' एक सुन्दर नौजवान है, खासकर उसकी दोनों आँखें, तो बहुत ही सुन्दर हैं, पर मानसिक रूपसे वह काना है, क्योंकि मुसाफ़िरोंकी सुविधाके प्रश्नको वह अधूरे रूपमें ही देखता है, पर क्या हम 'क'की निन्दा करें और 'ख'को अपनी सहानुभूति दें?

यह हो सकता है, पर अगले ही स्टेशन तक; क्योंकि वहाँ 'ख' डब्बेके दरवाजे आ अड़ता है और ऊपर चढ़ते मुसाफ़िरोंको झकझोरता है—"जब पीछेके डब्बोंमें जगह खाली पड़ी है, तो यहाँ क्यों घुसे आ रहे हो?" चढ़नेवाले नहीं मानते, तो कहता है—"हमारे देशमें तो भेड़िया-धसान है साहब, जहाँ एक घुसेगा, वहीं सब घुसेंगे।" और तब उसकी देशभक्ति उमड़ आती है—"तभी तो हमारे देशका यह हाल है।"

इसी खने पहले स्टेशनपर 'क'के बारेमें सोचा था—"अरे भाई, डब्बेमें जगह होगी, बैठ जाऊँगा, नहीं तो खड़ा रहूँगा। तुम्हारे सिरपर तो मैं गिरूँगा नहीं, फिर तुम्हें मौत क्यों आ रही है!" तो क की तरह ख भी काना ही है!

एक और मित्र हैं। घरमें एक लड़का है, एक लड़की! लड़केका विवाह हुआ तो उन्होंने लड़कीवालेसे उसी तरह रुपया वसूल किया, जैसे पुलिस-वाले किसी चोरसे चोरीकी जानकारी उगलवाते हैं। बागमें उन्हें ढाई हजार रुपये मिले, पर उम्मीद थी पाँच हजारकी। वे शान्त रहे, पर दूसरे दिन बेटेने फैल भर दिये कि यह तो वह लड़की ही नहीं है, जो पहले दिखाई थी; भला मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ! चार-पाँच घण्टेकी

६..

रस्साकशीके बाद ढाई हज़ार और मिल गये, तो लड़की रूपमें लक्ष्मी और गुणमें सरस्वती हो गई।

मिले, तो मैंने कहा—"आपने तो कसाईको भी मात कर दिया ख़ून निकालनेमें !"

बिना शरमाये और झिझके, वे बोले—"बिना दबाये गन्नेसे रस कहाँ निकलता है भाई साहब !"

कोई तीन वर्ष बाद उन्होंने अपनी बेटीका ब्याह रचाया, तो करमकी बात, उन्हें उन जैसा ही समधी मिल गया। ऐसा चूसा कि सफ़ेद पड़ गये और यों कसा कि करवट न ले सके। विवाहके बाद एक दिन समाजकी दुर्दशापर आँसू बहाते-से वे कह रहे थे—"हमारे यहाँ लड़कीवालोंको तो कोई आदमी ही नहीं समझता। कम्बख्त मुझे इस तरह देखता था, जैसे मैं उसके बापका कर्ज़दार हूँ।"

जीमें आया कह दूँ—तीन वर्ष पहले तो आपको गन्नेकी उपमा बहुत पसंद थी भाई साहब !

वही कानेपनकी बात; बेचारेका बाजार घूम गया—लेनेमें दायें, तो देनेमें बायें !

एक और मित्र हैं, जब मिलते हैं, अपने इकलौते बेटेकी शिकायत करते हैं—"कोई बात सुनता ही नहीं, सदा अपने मनकी करता है। नाकमें दम है पंडितजी ! ऐसी औलादसे तो बेऔलादा भला ! ! !"

एक दिन बेटा मिला, तो बोला—"मैं तो उनसे परेशान हूँ पंडितजी ! हमेशा रट लगाये रहते हैं यह मत करो, वह मत करो। आख़िर आप ही बताइए कि मैं कोई भेड़ हूँ कि गड़रियेकी तरह वे मुझे हाँका करें, वरना मैं गड्ढेमें गिर पड़ूँगा।"

कोई नई बात नहीं, सिवाय इसके कि दोनों काने हैं—बापको बेटेकी

जवानी नहीं दीखती, तो बेटा बापकी बुजुर्गी नहीं देख पाता !

जो हाल बाप-बेटेका है, वही पति-पत्नीका। एक मित्र हैं। रातमें ११ बजे क्लबसे लौटते हैं, तो पत्नी सोई मिलती है। एक दिन दुःखी होकर बोले—"मैं सुबह ६ बजेसे कोई १४-१५ घंटे घरसे बाहर रहकर लौटता हूँ, तो श्रीमतीजी भैंस-सी पलंगपर सवार मिलती हैं।"

एक दिन बातों-बातोंमें मैंने कहा—"भाभीजी, आपसे भाई साहबको एक शिकायत है !" भरी तो बैठी ही थीं, बीचमें ही बात काटकर बरस पड़ीं—"ठीक है आपके भाई साहबको शिकायत है, पर पूरे १८ घंटे तेलीके बैलकी तरह काममें जुटी रहनेके बाद, जरा पलंगसे कमर लगाती हूँ; तो उनके कलेजेमें मकोड़े क्यों दौड़ते हैं ?"

वही बात कि दो काने एक गाँठमें बँध गये और पति महाशय पत्नीको और पत्नी महोदया पतिको अपनी अपनी आँखसे घूर रहे हैं।

अपरिचित मुसाफ़िर या परिचित मित्र, सगे-संबंधी या पति-पत्नी और पिता-पुत्रसे आत्मीय; जब दो भिन्न विचारोंके लोग आपसमें बातें करते हैं और एक-दूसरेसे सहमत नहीं हो पाते, तो एक-दूसरेको बेईमान मान बैठते हैं और इस प्रकार सुलझानेवाली बातचीत, उलझानेवाली कड़ुवाहटमें बदल जाती है, पर यदि हम सब दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न करें, तो बड़े-बड़े विवाद यों ही शान्त हो सकते हैं।

दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो वातावरणको कोमलतासे भर देती है। यह कोमलता समन्वयके लिए जगह बनाती है और इस प्रकार बीचकी दूरी कम होकर एकताका जन्म होता है।

यदि दूरी इतनी अधिक और मौलिक हो कि एकता असंभव रहे, तब भी यह दूरी इतनी कम अवश्य रह जाती है कि बीचमें एक हल्का मतभेद ही रह जाय और मन-मुटाव जन्म न ले !

दूसरेको हमेशा उसकी आँखसे देखिए और सावधान रहिए उस खतरेसे, जो दूरबीनको उल्टी करके देखनेसे पैदा होता है ! सही यह भी कि सत्य वही और उतना ही नहीं है कि जो-जितना आप देख पाए। फिर यह भी तो संभव है कि हाथीके स्वरूपका अलग-अलग वर्णन करनेवाले वे दोनों आदमी शत प्रतिशत सच्चे होकर भी बस इसलिए अधूरे हों कि एकने हाथीको देखा था सूण्ड की तरफसे और दूसरेने पैरकी तरफसे !

छोटी कैंचीकी एक ही लपलपीमें !

आज शौचादिसे निवृत्त हो हजामत बनाने बैठा, तो शीशेमें देखा कि माथेके बाल बहुत ऊपरतक उड़ गये हैं, पर उड़े हुए स्थानमें जो १०-५ बाल बचे हैं, उन्हींमें एक बाल है सफ़ेद, जो बीचमें तनकर कुछ इस तरह खड़ा है कि जैसे कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा कर रहा हो। मुझे जाने क्यों, वह भला नहीं लगा और उसका वहाँ यों उद्धतभावसे खड़ा रहना असह्य हो उठा।

मैंने अपनी छोटी कैंची उठाई और एक ही लपलपीमें उसे कुतर दिया। उसकी जड़ उखाड़ देना तो मेरे बसका न था, पर हाँ उस समय उसे मैंने अदृश्य अवश्य कर दिया। मैंने गौरसे शीशेमें देखा। अब वहाँ उसका नाम-निशान कुछ भी न था। भीतर एक सुखका स्पर्श-सा हुआ, पर तभी मुझे बहुत ज़ोरसे हँसी आ गई। बात यह हुई कि सुखके उस स्पर्शके साथ ही मेरे मनमें आया कि यह सुख वैसा ही मूर्खतापूर्ण है, जैसा उन अभागे शासकोंका होता है, जो दमनसे नये विद्रोहोंको समाप्त मानकर संतुष्ट हुआ करते हैं। मैंने सोचा कि यह धवल केश मेरी ही खोपड़ीमें छुपा इस समय गर्वसे शायद कह रहा होगा—"अजी, क्या रक्खा है कैंचीमें और क्या धरा है उस्तरेमें, अगले सप्ताह देखिएगा, यहीं अपना झण्डा फहराता दिखाई दूँगा।"

इस घोषणाके साथ मुझे लगा कि धवल केशकी यह फ़ाइल अब दफ़्तर दाखिल हुई, पर तभी भीतरसे झाँक पड़ा एक प्रश्न—क्यों जी, जब सिरपर हजारों बालोंका खड़ा रहना बुरा नहीं लगता, यही नहीं, यह भी कि अच्छा लगता है, तो इस बेचारे एक सफ़ेद बालका ही खड़ा रहना तुम्हें ऐसा क्यों अखरा कि कैंची लेकर दौड़ पड़े।

प्रश्नका तरीक़ा है कि उसका समाधान हो; नहीं तो वह फाँस-सा

चुभता रहे। प्रश्न भी जीवनकी एक कसौटी है। 'सबसे भले हैं मूढ़, जिन्हें न व्यापे जगत रति' यह तुलसीदास कह गये हैं। मेरी रायमें मूढ़ वह, जिसके मनमें कोई प्रश्न ही न उठे। जो जीवनको देखता है, जीवनके बीचसे गुजरता है, पर जीवनमें दिलचस्पी नहीं लेता, जिसके मनमें जीवनके सम्बन्धमें प्रश्न ही नहीं उठते, वह मूढ़ ही तो है।

फिर प्रश्नोंकी भी श्रेणी है कि किस तरहके प्रश्न मनमें उठते हैं। रातमें तारोंको देखकर कविके मनमें भी प्रश्न उठते हैं, वैज्ञानिकके मनमें भी और भक्तके मनमें भी, पर तीनोंके प्रश्न अलग-अलग हैं और उनके प्रश्न ही उन तीनोंको परखनेकी कसौटियाँ हैं। साथ ही यह भी कि किसके मनमें किस तरहके प्रश्न उठते हैं और वह किस तरह उनका समाधान पाता है।

इस सम्बन्धमें मेरा अपना तरीका यह है कि मुझमें स्वयं प्रश्न उठते हैं और मैं स्वयं अपनेमें ही उनका समाधान खोजता हूँ। कई बार मुझे कई-कई वर्षोंमें अपने प्रश्नका उत्तर मिला है और कई बार तुरंत, पर अपनेसे बाहर समाधान पानेकी मुझमें प्यास कभी नहीं जागी।

बात यह कि मैं विद्वान् नहीं हूँ, जीवन-पथका एक सतर्क यात्री हूँ; इसलिए मेरे प्रश्न तत्त्व-ज्ञानकी, गहरी जिज्ञासाके तो हो ही नहीं सकते। उनका सम्बन्ध जीवनके साधारण उलट-फेरोंके साथ ही होता है और तभी यह भी कि उनका उत्तर जीवनकी गतिविधिमें ही मिले।

आजका प्रश्न भी जीवनका एक स्वाभाविक प्रश्न है कि क्यों जी, जब सिरपर हज़ारों काले बालोंका खड़ा रहना बुरा नहीं लगता, यही नहीं, [illegible] ही खड़ा रहना [illegible]

प्रश्न फालतू हो, तो उसका टालतू उत्तर है मौन, पर वह फालतू न

होकर सही दिशामें हो, तो उसका समाधान हो, नहीं तो कहा नहीं मैंने कि वह फाँस-सा चुभता रहेगा—चुभ ही रहा है।

मैंने समाधानकी दिशामें झाँका ही था कि मुझे याद आ गये मेरे मित्र शर्माजी। हजामत तो वे बनाते हैं तीन ही मिनटमें, पर मूँछें ठीक करते हैं पूरे छह मिनटमें। बात यह है कि नाकके ठीक नीचे उनकी घनी काली मूँछोंमें कोई १०-१५ सफ़ेद बाल उग आये हैं। वे उन्हें अपनी छोटी-सी कैंचीसे कुतर-मुतर करते रहते हैं और मुसीबत यह है कि वे यह तो चाहते हैं कि सफ़ेद बाल किसीको दिखाई न दें, पर वे यह भी चाहते हैं कि किसीको यह भी दिखाई न दे कि उन्हें यहाँसे हटाया गया है। गरज यह कि वे उनका अपने साथ कोई सम्बन्ध होना अपनी हेठी मानते हैं।

फिर वही प्रश्न कि आखिर सफ़ेद बालसे यह चिढ़ क्यों? प्रश्न मेरी चेतनामें चक्कर काट रहा है और प्रश्न क्या चक्कर काट रहा है मैं ही चक्कर काट रहा हूँ। चक्करका अर्थ है घूमना। घूमना यानी अब यहाँ, तो तब वहाँ, तो पहुँच गया मैं वासुदेवकी माँके घर। उम्र ४० सालकी है, सब तरहसे सुखी, स्वयं सुहागन है, आगे बेटा-बहू हैं। उस दिन मैं वासुदेवको बुलाने गया, तो देखा कि माँ धूपमें बैठी अपनी बहूसे सफ़ेद बाल चुँटवा रही है। ओह, इसे भी सफ़ेद बालसे चिढ़ है।

मनमें आया ठीक तो है यह चिढ़ कि सारे बाल तो काले, बीचमें २-४ सफ़ेद। ठीक ऐसा लगता है कि सफ़ेद कुरतेमें किसीने लाल टुबकी लगा दी है। सफ़ेद बालके प्रति हमारी यह चिढ़ हमारे सौन्दर्य-बोधका ही चिह्न है। मनको संतोष हुआ कि मैंने जो अपने चमकते मस्तकसे यह सफ़ेद बाल फुर्तीके साथ कैंचीसे कुरका, तो यह इस बातका एक प्रमाण ही हुआ कि मुझमें सौन्दर्य-बोध है।

आदमी भी कितना चतुर है कि वह औरोंको तो घिस्सा-पट्टी देता

ही रहता है, अपनेको भी नहीं छोड़ता। मैंने भी यों अपनेको सौन्दर्य-बोधका पण्डित मान लिया, पर यह मानना टिका नहीं; क्योंकि तभी मुझे याद आ गये मेरे मित्र चौधरी साहब! मशहूर आदमी हैं। समाजमें नाम है, अण्टीमें दाम हैं। उम्र ढल चली है, पर देहमें बल है, चेहरेपर रौनक भी। बाल उनके काले हैं, यही मैं जानता था, पर उस दिन लखनऊ जानेकी बात चली तो बोले—"मेरे लिए खिजाबकी एक शीशी लेते आना। अमीनाबादपार्कमें मंदिरसे आगे जो बड़ी-सी दुकान है, उसपर मिलेगी। ये लो पाँच रुपये।"

मैंने पूछा—"क्या कीजिएगा खिजाब मँगाकर?" बोले—"नज़लेके मारे सिर सफ़ेद हो गया है।"

सोचना पड़ा कि सफ़ेद बालोंसे हमारी चिढ़ हमारे सौन्दर्य-बोधका चिह्न तो नहीं है; क्योंकि जिनके १०-२० बाल सफ़ेद हैं, वे तो उन्हें यहीं नोचते; जिनका सारा सिर सफ़ेद है, वे भी उन्हें रँगते हैं।

सफ़ेद बालसे यह चिढ़ किस सीमातक है, यह मैंने मियाँ नूरूसे समझा। नूरू हमारे ही मुहल्लेमें रहता है, सब्जी मंडीमें चौकीदारी करता है। उस दिन दोपहरको अपने घरके बाहर बैठा था। मैं उधरसे निकला, तो देखा कि उसके सारे सिरपर कोई दवा लगी है और ऊपर पट्टी बँधी हुई है।

देखा तो धक्से रह गया। मनमें आया, रात मंडीमें कहीं चोरोंसे मुठभेड़ हुई है और सिर फूटा है। सहानुभूतिसे पूछा—"क्यों भाई, कहाँ चोट खा गये?"

"चोट!" नूरू मुसकराया—"बाबूजी, यह तो मैंने मेहँदी लगा रखी है।"

"सिरमें मेहँदी क्यों?" उत्तरमें उसने बताया कि—"खिजाबकी

मामूली शीशी सौ-डेढ़ रुपयेमें आती है। कहाँसे लायें बाबूजी, इसलिए, बागसे मेहँदी चूँट लाये और पीसकर लगा ली।"

"पर नूरू भैया, इससे बाल काले तो नहीं होते?" मैंने कहा, तो बोला—"अजी, काले नहीं होते, तो क्या हुआ, सफ़ेद दाग भी तो नहीं रहते।"

मतलब यह कि कुछ भी हो, बाल सफ़ेद न रहें—भले ही वे लाल हो जायें।

लहरमेंसे लहर उठती है, तो बातमेंसे बात। नूरूकी बातमेंसे नई बात उठी—बालोंकी सफ़ेदीसे आदमीको चिढ़ है, चिढ़ गहरी भी है पर है, क्यों यह चिढ़?

जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। इस प्रश्नका उत्तर अतीतमें एक कवि दे गये हैं। वे थे केशवदास। बड़े रसिया थे, पर बेचारेके बाल सफ़ेद हो गये, तो रस-भंग होने लगा। एक दिन दुखी होकर अपनी भाषामें बोले—

"केशव, केशन अस करी, अरि हूँ जस न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहिं॥"

देह बूढ़ी हो चली है, पर मन अभी तरुण है। तरुणाई रंगरलियोंका त्योहार है, पर बाबा कहनेका अर्थ है कि द्वारपर ही उनका प्रवेश-निषेध हो जाये। तो काला केश जीवनके चढ़ावका चिह्न है और सफ़ेद बाल ढलाव-का। चढ़ावमें चाव है, ढलावमें शान्ति है। चावमें प्राप्तिकी कामना है, शान्तिमें प्राप्तका संतोष है। कामनाकी ध्वनि है आकर्षण, संतोषकी ध्वनि है इच्छा-हीनता।

काला केश यौवनका चिह्न है, सफ़ेद बाल बुढ़ापेका। [illegible] वृत्ति है—पाओ, और पाओ, अभी और। बुढ़ापेकी वृत्ति है—छोड़ो। और पाने

हुएको परखो। यौवनकी वृत्तिका स्वरूप है—गिओ, पिओ, गिरे जाओ; छको मत। बुढ़ापेकी वृत्तिका स्वरूप है—बहुत पी चुके, अब ठहरो।

यौवन रक्त है, बुढ़ापा ओज है। यौवन समेटना है, बुढ़ापा सहेजना है। यौवन यात्रा है, बुढ़ापा पड़ाव है।

काला वर्ण है—एकांगिताका चिह्न, सफ़ेद वर्ण है—सर्वांगीणताका चिह्न; क्योंकि काला एक रंग है और सफ़ेदमें सब रंगोंका समन्वय है।

सफ़ेद बाल कहता है कि बुढ़ापा आ गया है, यौवनमें जो कुछ समेटा है, उसे सहेज लो।

समेटमें सामग्रीकी बहुलता है, सहेजमें उसका वर्गीकरण है और यह भी कि जो फालतू है, बोझ है, उसे हम फेंक दें।

हमारा मोह यहाँ चौंकता है, बिदकता है—नहीं, अभी नहीं, अभी तो समेटका, संग्रहका, जो मिले, सो लेनेका ही समय है।

सफ़ेद बालके प्रति हमारे मनमें जो चिढ़ है, वह इसी मोहकी ध्वनि है और इस ध्वनिकी प्रतिध्वनि है कि हम अभी संघर्ष चाहते हैं, सुख नहीं। यौवनमें संघर्ष है, उत्तेजना है, बुढ़ापेमें शान्ति है, सुख है। संघर्षमें जीवनका रस है, सुखमें जीवनका फल है। रस काव्य है, सुख अध्यात्म है।

हम रसमें इतने लीन हैं कि फलकी ओर नहीं देख पाते—उस राहीकी तरह, जो चलते-चलते राहकी चीजोंको देखनेमें इतना मशगूल है कि मंजिलको पार करके भी सोचता है, काश, अभी चला ही चलता।

ओह, इस चलाचलीमें मैं कहाँ चला गया—बात तो बस इतनी ही है कि मेरी चमकती चाँद परजो थोड़ेसे बाल बच गये हैं, उन्हींमें एक था सफ़ेद; जाने क्यों मुझे वह अच्छा नहीं लगा और अपनी छोटी कैंचीको एक ही लपलपीमें मैंने उसे बुरक दिया!

यह सड़क बोलती है !

नई दिल्लीकी एक सड़कका नाम है—पार्लमेंट स्ट्रीट। ऑल इण्डिया रेडियो इसीपर है और इसके चौराहेपर आते ही सामने दिखाई देता है वह गोल भवन, जिसमें हिन्दुस्तानके भाग्यका फैसला हुआ करता है।

क्या नाम है इस सड़कका भी ! १५ अगस्तको हिन्दुस्तानमें हरेक चीज बदल गई, यहाँतक कि राष्ट्रीय झण्डा भी चर्खा छोड़कर चक्रधारी हो गया, पर यह सड़क है कि घड़ी-घड़ी आते-जातोंसे मसखरियाँ करके कहती है—भाई, मैं पहले ही जानती थी कि दुनिया बदलेगी। कहो फिर बदली या नहीं ? ऐसी बदली कि बरसाती बदली भी न बदली होगी, पर मैं आनेवाले दौरको पहले ही समझ गई थी और वाह क्या नाम रक्खा था मैंने भी अपना—पार्लमेंट स्ट्रीट। रास्ता बताती थी असेम्बली-भवनका और थी पार्लमेंट स्ट्रीट। कहाँ बेकार, बेअसर बहस करनेवाली असेम्बली और कहाँ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पार्लमेंट; मुझे मालूम थी १५ अगस्तकी बात !

बात मुझे मालूम थी; बिल्कुल उसी तरह, जिस तरह ज्योतिषियोंको चाँद-सूर्यके ग्रहणकी बात। न अन्दाज, न अटकल, न ग़ालिबन, न यथा-संभव; पंचांगमें साफ़ छपा रहता है और छपा क्या रहता है कोई यों ही, उसकी तस्वीरतक बनी रहती है कि कितना ग्रहण लगेगा। अजी, मिनट तो बहुत बड़ी बात है, पलोंकी गिनती लिखी रहती है। फिर दुनिया कोई मेरी मौसीका घर तो नहीं कि चाहे जहाँसे देख लो, वैसा ही दीखे—यह दुनिया है जनाब, विश्व-ब्रह्माण्ड। पंचांगमें साफ़ लिखा रहता है कि ग्रहण हिन्दुस्तानमें इतना दीखेगा, अफ्रीकामें इतना, अमरीकामें इतना और फ्रांसमें दीखेगा ही नहीं।

"तो क्यों जी, ये ज्योतिषी लोग ग्रहणको ही पहलेसे जान लेते हैं या आदमीकी क़िस्मतको भी ?"

वाह, क्या सवाल पूछा है आपने भी ! क़िस्मत ही नहीं, ये लोग क़िस्मतके पन्नोंका एक-एक अक्षर ऐसा पढ़ लेते हैं, जैसे बच्ची-दर्शक सिनेमाके गानोंकी किताब !

कुछ लोग बौक्सोंमें बैठकर सिनेमा देखते हैं, कुछ फर्स्ट क्लासमें। सफ़ेदपोश ग़रीब आदमी भी अपने बच्चोंका दूध बंद करके १० आनेका टिकट खरीदते हैं। कुछ लोग और भी उस्ताद हैं। टिकट तो लेते हैं, १० आनेका, पर मैनेजर साहबसे दोस्ती गाँठकर उसे सेकेण्ड क्लासका बनवा लेते हैं, पर ये सब बेचारे यों ही पैसे खोते हैं सिनेमामें जाकर। पुराने लोग कहते हैं पैसा हाथका मैल है, पर आँखोंकी रोशनी तो हाथका मैल नहीं, उसे भी खोते हैं ये लोग। बौक्सोंमें तो जाने क्या क्या होता है, पर फर्स्ट और सेकेण्ड क्लासमें भी लोग घास खोदते हैं,जी हाँ, घास खोदते हैं, यानी समयकी जड़ काटते हैं।

जड़ काटनेका मतलब आपने खूब पूछा—समय कोई पेड़ थोड़े ही है कि उसकी जड़पर कोई कुल्हाड़ी मारे ! समयकी जड़ काटनेका मतलब है, समय बर्बाद करना। वही करते हैं ये लोग। ऐसे गुमसुम बैठे रहते हैं, जैसे इनके मुँहमें हापू निकल आया हो। कुछ लोग बात भी करते हैं, तो बेकार की। एक साहब हैं, अपनी टार्च जला-जलाकर कुछ नोट-बुकमें लिखते रहते हैं। बेचारे संपादक होंगे किसी पत्रके। तभी तो अँधेरेमें पत्थर-से बन रहे हैं। घर जाकर आलोचना करेंगे फ़िल्मकी। अरे साहब, फ़िल्म है तफरीह—मनोरंजन। दिनभर दफ़्तरमें पिसे, आफ़तो घरके धन्धोंमें पिसे, रातको ये दो घण्टे मिले, हँसिए, उछलिए, फुदकिए, चहकिए !

असलमें सिनेमा देखना सीखिए पाँच [illegible]

हैं फिल्ममें कि क्या कहने। किसीकी शादी पर्देपर हुई, तो ऐसे खुश हैं कि बस जैसे वे ही दूल्हे बन रहे हों। किसी प्रेमिकाने अपने प्रेमीको आधी रात बागमें बुलाया, तो जैसे उन्हींको निमन्त्रण मिला है। हर मौक़ेपर फिट रिमार्क और चुस्त चोंचलेबाजी। क्या खाक बीड़ी पीकर आलोचना लिखेंगे बेचारे संपादकजी; हुं! एक दिन इस दर्जेकी आलोचनाको शार्टहैण्डसे लिख लें, तो संपादकजी धन्य हो जायें! ये लोग थके हुए आते हैं और ताजे होकर लौटते हैं, जब कि गद्दोंपर बैठनेवाले सिनेमा हालके बरामदेमें अंगड़ाइयाँ लेकर अपनी मोटरों या तांगोंकी सीटोंपर आ गिरते हैं। सच यह है भाई साहब, जिन्दगी जिन्दादिलीका नाम है।

यह दुनिया भी चोंचोंका मुरब्बा है। चोंचोंका मुरब्बा? हाँ जी, एकदम चोंचोंका मुरब्बा। जो लोग दिनभर गद्दियोंपर बैठे रहे, बद हाजमा जिनका ऐसा साथी कि मरियम गो मरियम पै टरियम नहीं, सिनेमामें बैठे-बैठे भी जिनकी पिण्डलियाँ फूल जाती हैं, वे मोटरोंमें क्यों बैठते हैं? रातका सुहावना समय और परिवारका साथ, टहलते-टहलते घर आयें, तो क्या कहने! और जो कहीं चाँदनी रात हो, तो वाह, वाह! चाँदनी रात क्या है, धरतीका स्वर्ग है।

सुना है अमेरिकामें एक करोड़पतिका लड़का ३-४ सालकी उम्रमें अन्धा हो गया। यह तबकी बात है, जब वहाँ आँखोंका आपरेशन नहीं होता था। ३६-३७ वर्ष वह अन्धा ही रहा, अन्धापन प्रकृतिका कितना बड़ा दण्ड है! पिछली लड़ाईमें जो नये-नये आविष्कार हुए, उनमें कई औषधियाँ भी थीं और कई नये आपरेशन भी! उस लड़केकी किस्मत जागी और वह ठीक हो गया। लड़का क्या अब तो वह ४० सालका अधेड़ था। ओह, उसकी खुशी! बालकको बेगनाथ गोर भी क्या नाचा होगा, जो वह नाचा। [illegible] इन चीजोंको यह एक बार

कौतुकसे देखता, घंटों देखता, बार-बार देखता, देखता ही रहता। उसे आश्चर्य होता कि इस इतनी सुन्दर दुनियाको देखे बिना ये अन्धे कैसे जीवित रहते हैं ?

एक दिन अचानक उसके मनमें आया कि वह सारे संसारके सुन्दर स्थानोंकी सैर करे । रुपया पास था, काम-धन्धेकी चिन्ता न थी, बस निकल पड़ा दुनियाकी सैरको ! यह देख, वह देख। घूमता-घामता वह हमारे देशमें भी आया। अमेरिकामें पहुँचकर जब पत्रकारोंने उससे पूछा, तो उसने कहा—दुनियाकी सबसे सुन्दर चीज हिन्दुस्तानमें पूनोकी चाँदनी रात है। उस दिन ऐसा मालूम होता है कि लोहेकी काली रात अचानक चाँदीकी हो गई है।

वाह, क्या कवियों-जैसी बात कही है उस धनी अमेरिकनने। मेरी भी यही राय है कि चाँदनी रात धरतीका स्वर्ग है, पर भाई साहब, हमारे देशमें कुछ लोग हैं, जो चाँदीके तगार खोलनेमें परेशान हैं और कुछ आसमानके स्वर्गका पासपोर्ट बनवानेमें। यह अपने सामने फैली चाँदी और अपनी मुट्ठीका स्वर्ग उन्हें दिखाई ही नहीं देता !

आदमीके दिमागमें यह क्या खुराफ़ात भरी है कि वह कांचनको छोड़कर काँचकी ओर लपकता है। एक स्वामीजी एक दिन अपने शिष्योंको एक कहानी सुनाते जा रहे थे कि एक ग़रीब आदमीने किसी साधु महात्माकी बड़ी सेवा की। महात्माजी प्रसन्न हो गये और बोले—लो, यह पारस पथरी तुम्हें दिये जा रहा हूँ, परसों आकर ले लूँगा। तबतक जितना सोना तुम चाहो बना लो। परसों जब मैं आऊँगा तो ठहरूँगा नहीं। फौरन पारस पथरी लेकर चला जाऊँगा। ग़रीब आदमी बड़ा खुश हुआ, पर उसने सोचा कि अब तो मेरा भाग्य बदल ही गया, अब क्या। आज तो इस खुशीमें मैं खूब सोऊँगा और कल लोहा खरीदकर उसका सोना बनाऊँगा। यह उस

दिन खूब सोया। दूसरे दिन सुबह उठा और लोहा खरीदने चला, पर रास्तेमें एक मदारीका खेल हो रहा था, वह उसे देखनेमें लग गया और दोपहरी चढ़ आई। रईसी बेचारेके दिमागमें आ ही गई थी। सोचा—चलो, अब खाना खाकर सोएँगे। शामको लोहा खरीदेंगे। खरीदा और पारस पथरी फेरी; काम ही कितना है। शामको लोहा खरीदने गये, तो भाव न बना। उनका कहना था कि जब हम ५०-१०० मन इकट्ठा खरीद रहे हैं, तो दुकानदारको हमारा लोहा हमारे घर पहुँचा देना चाहिए, पर दुकानदार इसपर तैयार न हुआ। ग्राहकके दिमागमें नई रईसीके सुपनोंकी गरमी, वह भी न झुका और चला गया। उसने सोचा—महात्माजी कल सुबह थोड़े ही आ जाएँगे ? मैं जल्दी उठकर दूसरी दुकानसे लोहा खरीद लूँगा, पर दूसरे दिन वह सो ही रहा था कि महात्माजी आ पहुँचे। वह बहुत रोया, घिघियाया, पर वे न माने। इसके लिए भी तैयार न हुए कि वह ग़रीब अपने किवाड़ोंकी कुण्डी-साँकल हीका सोना बनाले। महात्माजी अपनी पारस-पथरी लेकर चलते बने। बेचारा सिर पीटता रह गया, पर यह क़सूर किसका था ?

दुनियामें बहुत ही कम लोग हैं, जो नफ़े-नुक़सानको ठीक-ठीक समझते हैं। यह बेवकूफ़ भी मजदूरीके कुछ रुपये बचानेकी चिन्तामें, लाखोंका नुक़सान कर बैठा। कभी-कभी तो नफ़े-नुक़सानका सवाल इतना सूक्ष्म हो उठता है कि उसे समझना ही मुश्किल हो जाता है। बड़े-बड़े पंडित खो जाते हैं कि नफ़ा क्या है, नुक़सान क्या है ?

एक दिन किसी बड़े घरका खानसामा—दो साइकिलें एक साथ लिये जा रहा था। अब सूरत यह थी कि वह ज़मीनपर पैदल और एक साइ-किल उसके दायें हाथ और एक बायें हाथ। दोनोंको लिये वह आ रहा पैदल ! अब देखनेमें उसके पास दो सवारियाँ, पर असलमें वह खुद एक सवारी बना

हुआ। यानी साइकिलोंपर वह नहीं, साइकिलें उसपर सवार। जिनके पास एक साइकिल वे हवासे बातें करते हुए निकले जा रहे हैं, पर जिसके पास दो सवारियाँ, वह घिसट रहा है जमीनपर। हाँ जी, यह घिसटना भी है कि साइकिलोंपर हाथ रक्खे चले जा रहे हैं, जैसे यह भी कोई नृत्यकी मुद्रा हो या डान्सका पोज ! अब अगर यह खानसामा एक साइकिल किसीको दे दे, तो क्या हो ? पहली बात तो यह कि यह सवारीसे सवार हो जाये और दूसरी यह कि इसे एक और आदमी भी अपनी बगलमें हवासे बातें करता नजर आये। हमेशाके लिए जो एक आदमी सुख-दुखका साथी बन जाये, वह नफ़ेमें, पर नहीं यह जमीनपर ही रेंगेगा और किसीको देगा नहीं अपनी एक साइकिल !

और फिर इस बेचारे खानसामाकी क्या शिकायत ! यह तो किसी दूसरेकी साइकिलें लिये जा रहा है। यह एक किसीको दे दे, तो इसकी [illegible] चांदमारी हो कि तबियत हरी हो जाए ! हमारा तो सारा समाज ही इस विषमताका शिकार है। हमारे विद्वानोंने अर्थशास्त्रके नामपर समाजमें कहीं टीबे खड़े कर दिये हैं और कहीं गड्ढे खोद दिये हैं। नफ़ा-नुकसानकी भी यह एक अजीब पहेली है !

और क्यों जी, पहेली क्या नहीं है ? सारा जीवन पहेली ही पहेली है। प्राचीन भारतके किसी धर्म-जिज्ञासुने परेशान होकर कहा था—'श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् !' वेद अलग हैं, स्मृतियाँ अलग हैं, अरे भाई, कोई भी ऐसा मुनि नहीं, जिसकी बात हरेकके लिए प्रमाण हो और फिर खैर, यह तो धर्मकी बात हुई—धर्मस्य त्वरिता गतिः— धर्मकी गति सूक्ष्म है, उसे भाँपना आसान नहीं, पर यहाँ तो हरेक आसामीकी गलती ही [illegible] है।

मेरे पड़ोसमें [illegible] आदमनगरको जो सड़क गई है, उसपर कुछ

लम्बे-लम्बे पहाड़ी पेड़ खड़े हैं। उनमेंसे एकपर उस दिन एक चील बैठी थी। उधरसे दो एंग्लो इंडियन लड़के आये और उन्होंने अपनी छोटी बन्दूकसे उस चीलपर वार किया। निशाना ठीक बैठा, छर्रा कलेजेको बींध गया। चील टूटे आम-सी नीचे आ गिरी। बारूदकी आगसे वह भुनी जा रही थी। उन लड़कोंने उसे देखा और चल दिये। उनसे किसीने कहा—अरे, इसे मारा है, तो उठा ले जाओ!

लड़के बोले—"हम इसे क्या करेंगे?" पूछा गया कि तब तुमने इसे मारा ही क्यों? लड़के मुसकराये—"वाह, हम तो निशाना सीख रहे हैं!" तभी उधरसे दो और लड़के आये। एकने दूसरेसे कहा—आ भाई इसे हलाल करें। वे दोनों उसके पास जा बैठे। चाकू निकालकर उन्होंने कुछ मंत्र-सा पढ़ा और उसके गलेमें वह उतार दिया। चील हमेशाके लिए सो गई। लड़कोंने अपना चाकू घासमें साफ़ किया और चलने लगे। किसीने उनसे कहा—"अरे भाई, तुमने मारा है, तो ले जाओ इसे!"

लड़के बोले—"हम इसे क्या करेंगे ले जाकर?"

"खा-पका लेना और क्या करोगे?"

"जी नहीं, चीलका गोश्त खानेके लायक नहीं होता!"

"फिर तुमने इसे मारा ही क्यों?"

"अजी, हम तो हलाल करना सीख रहे थे!"

अब बताइए, एककी रायमें चील निशाना सीखनेका सिर्फ़ काला सितारा है, तो दूसरेकी रायमें हलाल सीखनेकी कुन्जी हो! है न हरेककी अपनी राय? यह अपनी रायका मसला इतनी बड़ी पहेली है कि सुलझाये नहीं सुलझती। इस [illegible] यही पेशा है कि वे यह बतायें कि इस मामले [illegible] राय थी? इससे भी मजेदार यह कि यदि इ [illegible] कोई राय नहीं दी, तो यदि

वे राय देते, तो क्या देते ? समाजमें इन्हें धर्मगुरु कहा जाता है, इनका मान किया जाता है। अच्छा छोड़िए धर्मगुरुओंकी बात; इन वकीलोंको देखिए। दोनों तरफ़के दो वकील, पर क़ानून एक। दोनों अपना-अपना अर्थ बताते हैं। अब जिसका भी अदालत मान ले---यानी क़ानून न हुआ, लाटरी हुई कि जिसकी खुल गई, खुल गई !

ओह, मैं भी इधर-उधरकी बातोंमें ऐसी उलझी कि अपनी बात ही भूल गई। मैं कह रही थी कि मेरा नाम पार्लामेंट स्ट्रीट है और भविष्यका रूप मैं पहलेसे ही जानती थी। बात यह है कि जब सिरपर आ पड़े, तब तो सभी समझ लेते हैं, पर ख़ूबी तो उसकी है, जो दूरसे ताड़ ले। मैं यह न ताड़ पाती, तो आज मेरा भी तख़्ता उलटा जाता। मेरा यह पाठ संसार पढ़ ले, तो ९५ फ़ीसदी दुख छू-मन्तर हो जायँ। मैं आज भी लोगोंकी बातें सुनती रहती हूँ। संसार बदल रहा है, पर सामाजिक और धार्मिक संस्कारोंके संबंधमें लोग अपने विश्वासोंको नहीं बदलना चाहते। अब कोई पूछे इनसे कि २० वींमें १६ वीं सदी कैसे टिक सकती है ? बदलेंगे बेचारे, रो-झींककर, पर बात उनकी है, जो भविष्यको वर्तमानमें देख लें और तैयार हो जाएँ उसके लिए।

मेरी तो यही बात है, जिसे मैं अपने देशके हरेक आदमीसे कहना चाहती हूँ और इसीलिए मैं हर आते-जातेसे बोलती रहती हूँ।

धूप-बत्ती; बुझी, जली !

अपनी कोठरीमें आते ही देखा कि कल सुबह जो धूप-बत्ती जलाई थी, वह पूरी तरह जली नहीं थी, कुछ जलकर बुझ गई थी और अब भी ज्यों की त्यों खड़ी है। मुझे वह सिर-जली ऐसी लगी कि जैसे कोई मनुष्य हो; थोड़े बहुत ज्ञानसे जिसका बौद्धिक जागरण तो हो गया हो, पर मानसिक विकास न हुआ हो और वह उस बौद्धिक जागरणको अपना संपूर्ण विकास मानकर अहंकारमें उफना फिरता हो।

हाय रे बिचारे ज्ञान-दग्ध—**ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति।**

मेरा मन दयासे भर गया और मैंने उस धूप-बत्तीको बिना उठाये ही फिरसे जलानेका निश्चय कर लिया। झट मैंने दियासलाई जलाई और उसे धूप-बत्तीके सिरसे लगाया। दियासलाई जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने दियासलाईकी दूसरी सींक जलाई और उसे उसके दाहिनी ओर लगाया, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने तीसरी दियासलाई जलाई और उसे उसके बाईं ओर लगाया, पर वह भी जलकर बुझ गई।

धूप-बत्ती अब भी बिना जली—पहले जैसी ही सिर-जली खड़ी थी और मेरे लिए अब कोई मार्ग न था कि उसे खड़ी रहते जला दूँ। मैंने उसे उसके स्थानसे उखाड़ लिया और उसे झुकाकर चौथी दियासलाई जलाई। अरे साहब, वह दियासलाईसे छूते ही जल उठी। दियासलाईमें अब भी इतना दम था कि तैयार हों, तो वह ४-५ धूप-बत्तियाँ और जला दे!

जलती धूप-बत्तीने अपनी सुगन्धसे कोठरीको भर दिया। यह काम समाप्त हुआ तो बुद्धिने अपनी कलाबाजी दिखाई—तीन दियासलाइयाँ

पूरी जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली और एक दियासलाईके स्पर्श मात्रसे ही वह भभक उठी, यह क्या बात है ?

मनने कहा——कोई बात तो है यह; पर प्रश्न तो यह है कि क्या बात है वह ?

अब ऊहापोह की बारी है, तर्क-वितर्ककी बारी है, चिन्तन की बारी है।

जबतक तीन दियासलाइयाँ जलकर बुझीं, धूपबत्ती खड़ी थी और जब वह चौथीको छूते ही जल उठी, तो झुकी हुई थी।

लगता है——इस अनुभवमें मेरे प्रश्नका उत्तर आ गया है, पर वह इतना संकेतात्मक है, कि कहूँ—समा गया है। समायेको जानना आवश्यक है, तो सोच रहा हूँ कि धूप-बत्ती खड़ी हो या तिरछी, उसमें जलनेकी शक्ति बराबर ही है, पर खड़ी हुई धूप-बत्ती दियासलाईकी ज्वालाको ग्रहण करनेमें असमर्थ रहती है और तिरछी धूप-बत्ती उसे सुगमतासे ग्रहण कर लेती है; क्योंकि झुकी हुई धूपबत्तीको दियासलाई अपनी लौके पूरे घेरेमें ले पाती है और सीधी खड़ीको नहीं।

बात हाथ आ गई, पर बात अपनेमें इकहरी-दुहरी बात ही तो नहीं है——उसमें बात-बातमें बात भी तो है-'ज्यों केलेके पातमें पात-पातमें पात।'

तो यह निकली आ रही है बातमेंसे बात कि किसीसे कुछ लेना हो, तो झुकना आवश्यक है। झुकना, क्या शरीरका ? नहीं जी, यों झुककर, दण्डवत् लेटकर ही तो फौजके सिपाही गोलियाँ दागते हैं; तो झुकना देहका नहीं, भावका। साफ़-साफ़ यों कि पानेके लिए नम्र होना आवश्यक है। लोकोक्ति है——बेटा बनकर सबने खाया, बाप बनकर किसीने नहीं। यह बेटा बनना नम्रता ही तो है ?

याद आ रहा है संस्कृतका एक श्लोक, जिसमें सुखकी कुंजी बताई गई

है—विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् । पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम् । भाव यह है कि विद्यासे मनुष्यमें विनय आती है, विनयसे पात्रता—पानेकी योग्यता—और वह पात्रतासे पाता है धन, धनसे करता है धर्म, तब सुख ही सुख। सो पात्रताका मूल है विनय, नम्रता—झुकना।

क्यों भला ? नम्रतासे दाताके मनमें प्रवेश पाना सुगम है, सहज है। इससे दाताके मनमें देनेकी वृत्ति खिलती है, वह देनेमें सुख पाता है और अविनयसे वह वृत्ति संकुचित होती है, वह देनेमें भार मानता है।

हमारे लोक-जीवनमें इसका एक मर्मस्पर्शी संस्मरण सुरक्षित है—'कानी भाभी, पानी पिला। हाँ, इन बोलों दूधके कटोरे !'

भाभीकी एक आँख शीतलामें मारी गई और अब वह कानी है। उसका देवर—भाभीके लिए जिससे प्यारा कोई रिश्ता नहीं—उससे पानी चाहता है। लोककी ही अभिव्यक्ति है—पानीसे भी पतला क्या ? देवर-को ही क्या, पानी तो किसीको भी पिलाया जा सकता है, उसके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नहीं।

ठीक है, पानी पानेके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नहीं; पर अपात्रता न हो, यह तो आवश्यक है और 'कानी' विशेषणने—देवरकी अविनयी वृत्तिने—उसकी अपात्रता सिद्ध कर दी है।

भारतीय संस्कार है कि जो अपात्रको दे—अपात्रेभ्यश्च दीयते—वह पतित, तो देवरको भाभीका चुभता उत्तर है—'हाँ, इन बोलों दूधके कटोरे !' अरे देवर जी, तुम्हारे बोल तो इतने मीठे हैं कि मैं तुम्हें पानी नहीं, दूध पिलाऊँगी; मुँह धोये रहो !!'

हमारे लोक-जीवनमें इसका भी एक संस्मरण सुरक्षित है—'रानी भाभी, पानी पिला; पानी देवरके कुत्तोंको !'

प्यासा देवर भाभीसे कहता है— मेरी रानी भाभी, दो घूँट पानी पिलादो। रानीके विशेषणमें जो नम्रता है, अपनी अपेक्षा दूसरेको महत्त्व देनेकी जो वृत्ति है, उसने भाभीका मन पुलकित कर दिया और उसकी उदारताको, ममताको जगा दिया है।

वह कहती है—अरे देवर जी, पानीका क्या पिलाना, पानी तो मैं लाड़ले देवरके कुत्तोंके लिए भी स्वयं कुएँसे भर-खींच लाऊँ; देवर जी, तुम तो कुछ और पिओ—दूध, लस्सी, शिकंजवी, शर्बत !

माँगा था पानी, मिला चुभता ताना और माँगा था पानी, पर मिल रहा है दूध-शर्बत। झुकने और अकड़नेका यह चमत्कार है।

ओह, याद आगये मेरे बुज़ुर्ग दोस्त कुन्दनलाल। मेरी ही जन्मभूमिमें सुनारका काम करते थे। बड़े ही दिलचस्प आदमी थे। जब हम उनकी दुकानपर पहुँचते, वे सोने-चाँदीका कोई ज़ेवर बनाते होते और हम कहते—'कहिए, क्या बना रहे हैं भाई साहब ?'

वे अपना हथौड़ा रोक देते और राजा टोडरमलके समयका अपना चश्मा नाकसे माथेपर रखते हुए कहते—"अजीब सवाल है कि आज मैं क्या बना रहा हूँ ? अरे भाई, किसीकी बनती है नथ, किसीकी अंगूठी, किसी-का हार और किसीका कंगन, पर अपनी तो मैं दाल-रोटी ही बनाता हूँ, क्या आज, क्या कल और क्या परसों।" और तब ऐसी मीठी हँसी हँसते कि उस बुढ़ापेमें भी उनका खुबानी चेहरा कन्धारी अनार हो जाता !

अपनी ठुक-ठुकके बीच उन्होंने उर्दूमें कुछ कविताएँ भी लिखी थीं। एक शेर याद आ रहा है, पर याद धोखा दे गई, शेर कहाँ, शेरका भाव ही बस कि सुराही बहुत क़ीमती है, उसमें शराब भी बहुत क़ीमती है और वह साक़ीके बहुत क़ीमती हाथोंमें भी है—है बेशक, पर महत्त्व तो उस मामूली

प्यालेका है, जो उस सुराहीको सिर झुकाकर शराब देनेके लिए विवश कर देता है।

वही बात कि देनेसे बढ़कर लेनेवालेकी पात्रता है। लो, स्मृतिके आसनपर आ बैठे हैं पूज्य मदनमोहन जी मालवीय, जिनपर सदा धन बरसा। उस बार काशी-विश्वविद्यालयमें उनके दर्शन करने गया, तो बातों-बातोंमें उन्होंने कहा था—"देशके हर द्वारपर एक दाता खड़ा है अपनी खुली थैली लिये, पर कमी उन हाथोंकी है, जिनमें वह अपनी भेंट दे सके!"

मेरे उठते-उठते, आग्रहसे कहा था उन्होंने—"भूलना मत इसे।"

और बम्बई मेलके उस थर्डक्लास कम्पार्टमेण्टमें उस दिन पूज्य मालवीयजीके संदेशका परीक्षण कितना सफल रहा था?

मेलका हर डब्बा क़रीब-क़रीब 'एयरटाइट' था; बस खाली था एक डब्बा, पर इसमें चढ़ना शेरकी दाढ़से गोश्त निकालना था। स्टेशनके आते ही उसकी बन्द खिड़कीसे एक रौबीले पेशावरी पठानका चेहरा बाहर निकल आया। खिड़कीके बाहर हम सात मुसाफ़िर थे। खान और फौजी उस युगके शेर-साँप थे; उन्हें लांघना कठिन क्या, असंभव ही था।

खानने मुसाफ़िरोंको देखा और पूरे रौबसे कहा—"खिड़की नहीं खुलेगा।"

हम सबने समझ लिया कि ठीक ही है यह कि खिड़की नहीं खुलेगा, तो हम सात मुसाफ़िरोंमेंसे पाँच तो उसी क्षण दूसरे डब्बेकी ओर भाग निकले। छठेने सामनेसे आते चैकरसे शिकायत की—"जनाब, ये हज़रत पूरा डब्बा घेरे बैठे हैं और हमें चढ़ने नहीं देते।"

चैकर महोदयने अपने नये यूनीफार्मके रौबमें जरा डाटके स्वरमें खानसे कहा—"आप दूसरे मुसाफ़िरोंको चढ़नेसे नहीं रोक सकते; खोलिए खिड़की।"

खानने सचमुच खिड़की खोल दी और चैकरकी ओर मुसकराते हुए कहा—"ओ: शाला, तुम बैठाएगा इशको? बैठाओ। जब गाड़ी चलेगा और हम इस शालाको बाहर फेंकेगा, तो तुम शाला झण्डी हिलाना।"

चैकर तो खिसका ही, वे मुसाफ़िर महाशय भी नौ-दो-ग्यारह हुए। खानने उन्हें आवाज़ देकर कहा—"ओ: शाला, कहाँ जाता है? आवो ईढर, हम पूरी शीट देगा।" निमंत्रण काफ़ी उदार था, पर उसे स्वीकार करनेकी शक्ति उन महाशयमें न थी। वे चले, तो चले ही गये। खानने अपनी खिड़की धम-से बन्द करली।

मैं अब भी अपनी जगह खड़ा था—अपनी अटैची हाथमें लटकाये। खानने मुझे देखा, मैंने खानको। उसने क्या सोचा, मैं नहीं जानता, पर मैंने सोचा—'मालवीय जी महाराजका वचन है कि हर द्वारपर एक दाता खड़ा है, तो क्या यह खान भी दाता है?'

तभी खानने मुझसे कहा—"तुम नहीं गया?"

मैंने संक्षेपमें कहा—"नहीं खान साहब!"

"क्यों, गाड़ी में नहीं चढ़ेगा?"

"चढ़ूँगा, अगर आप प्यारसे चढ़ाएँगे।"

"क्यों? दूसरे डब्बेमें नहीं चढ़ेगा?"

"खान साहब, आप एक बहादुर पठान हैं और बहादुर आदमीका दिल बहुत बड़ा होता है। उसमें ही जगह न मिले, तो फिर कहाँ जगह मिलेगी?"

"तुम डरता नहीं—हम तुम्हें नीचे फेंक देगा?"

"नहीं खान साहब, बहादुर आदमीके पंजे सख्त होते हैं, दिल मुलायम होता है। आप मुझे नीचे नहीं फेंक सकते।"

खानने कुछ सोचा कि तभी गार्डकी सीटी बजी और हरी झण्डी हिली।

खानने खिड़की खोली और मुझे बुलाया। मैं झपटकर खिड़कीपर पहुँचा कि खानने सहारा देकर मुझे भीतर ले लिया।

१८ आदमियोंके बैठने लायक जरा छोटे-से डब्बेमें खान था, उसकी खूबसूरत बीबी थी और दो बच्चे थे। सबके बिस्तर बिछे थे; जैसे वे पलंगपर ही हों। मैंने खानकी बीबीको सलाम किया और खानको धन्यवाद दे, दूसरी तरफ़ बैठ गया। कुछ देर बाद धीरे-से खान मेरे पास आया और उसने मुझे दो बहुत बढ़िया सेब दिये। खाकर मजा आ गया और मैंने सोचा—"मालवीय जी महाराजका वचन सत्य है कि देशके हर द्वारपर एक दाता खड़ा है, अपनी खुली थैली लिये, पर कमी उन हाथोंकी है, जिनमें वह अपनी भेंट दे सके।"

सचमुच यह खान, जिसे हम सात मुसाफ़िरोंने यमदूत या जीता भूत समझा था, एक दाता ही तो था और उसकी प्यार भरी भेंट मेरे हाथोंमें थी, पर मेरी सनक देखिए कि मैं अब अपने दाताकी कसकर परीक्षा लेने पर तुल गया था।

दूसरे स्टेशनपर गाड़ी आकर रुकी, तो समयकी बात स्टेशन मेरी तरफ़ था। खानकी तरह मैं खिड़कीसे बाहर झुक गया। तीन मुसाफ़िर थे—दो जवान एक बूढ़ा। बिना खानकी तरफ़ देखे, जोरसे मैंने कहा—'बूढ़े बाबा, यह खान साहबका डब्बा है। उन्होंने मुझे मेहरबानी करके बैठनेकी जगह दे दी है। वह जगह मैं तुम्हें दे दूँगा और खुद खड़ा रहूँगा। तुम भीतर आ जाओ।" और बिना क्षणभर रुके, मैंने उन दोनों जवानोंसे कहा—"तुम्हारे लिए खिड़की नहीं खुलेगा, तुम कहीं और चले जाओ।"

तुरन्त वे दोनों चले गये और मैंने बूढ़ेको भीतर ले, अपनी जगह बैठा दिया। मैं कुछ देर तो खिड़कीपर झुका रहा और फिर दीवारसे लगकर

खड़ा-खड़ा अपनी पुस्तक पढ़ने लगा। कोई २० मिनट बाद खानने पूछा—"तुम क्यों खड़ा है मेरे भाई ?"

सरलतासे मैंने कहा—"खान साहब, आपने मेहरबानी करके जो जगह मुझे दी थी, वह मैंने बूढ़े बाबाको दे दी, लेकिन मुझे कोई दिक्क़त नहीं है, आप आरामसे लेटिए।" खानने बिना अपनी गंभीरता भंग किये, कहा—"नहीं, तुम भी बैठो।" खानको धन्यवाद देकर मैं बैठ गया।

दूसरे स्टेशनपर गाड़ी ठहरी, तो मैंने एक स्त्री और उसके बालकको अपनी जगह बिठा दिया और खड़ा हो गया। कुछ देर बाद खानकी बीबीने खानके कानमें कुछ कहा और खानने मुझे फिर बैठा दिया।

अब दोपहर भर गई थी। सोनेके लिए करवट लेते-लेते खानने मुझसे कहा—"तुम चाएगा, तो किसीको बैठाएगा, पर तुम जरूर बैठेगा—हम सोता है।"

और खान जब सोकर उठा, तो हम १२ थे। खान देखकर हँसा और बोला—"सरकार तुमको रोज बोम्बे मेलमें रखे, तो बोत मुसाफिरको आराम होगा।"

मैंने कहा—"पर खान साहब, आपको भी मेरे साथ रहना पड़ेगा; नहीं तो मुझे खाली डब्बा कहाँ मिलेगा!" खान और उसकी पत्नी इतने जोरसे हँसे कि मजा आगया।

शामको ७ बजे मैं अपने स्टेशनपर उतरा, तो खानने मुझसे हाथ मिलाया और उसकी बीबीने मुझसे पहले मुझे सलाम किया।

खानकी सख्ती क्यों छूमन्तर हो गई थी ?

खान देनेको क्यों उतावला हो उठा था ?

मेरी सफलताका रहस्य क्या था ?

धूपबत्ती तीन दियासलाइयोंमें क्यों न जली ?

चौथी दियासलाईके छूते ही क्यों जल उठी ?

देख रहा हूँ---धूपबत्ती झम-झम जल रही है और मेरी कोठरी उसकी भीनी सुगन्धसे भरी है। सोच रहा हूँ---यह पहली दियासलाईमें जल जाती, तो यह बात और बातमें छिपी बात मैं कैसे पाता ?

सहो मत, तोड़ फेंको !

[१]

कई साल बाद मैं अपने उन मित्रके घर गया, तो मुझे वे एक नया आदमी-सा लगे। हँसी उनमें फूट-बिखरी, तो मस्ती उठ-उभरी; चुलबुले वे इतने कि राह चलतोंसे छेड़कर बातें करें, पर अब देख रहा हूँ कि उनपर एक बोझ-सा लदा है और जैसे वे कुछ खोये-खोये-से हैं। वे हँसते हैं, तो उस हँसीमें कहीं प्राण नहीं और जी रहे हैं, तो जैसे अनमने होकर !

देखा था वसन्त, तो देख रहा हूँ पतझड़; बहुत अजीब-सा लग रहा है उनके साथ रहना, पर पूछता हूँ उनसे कि भाई, यह सब क्या है, तो कहते हैं—"कुछ नहीं, बहुत दिनमें मिले हो, तभी ऐसा लगता है, ठीक तो हूँ।" पर ठीक कहनेसे ठीक हुआ करता, तो यह दुनिया आज तक जाने कैसी हो गई होती। देख रहा हूँ कि चल तो सभी कुछ रहा है, पर चूल हिली हुई है।

"क्या मैं आपके पीछे आपकी डायरी पढ़ सकता हूँ इन तीन वर्षोंकी ?" दफ्तर जाते हुए मित्रसे मैंने पूछा, तो वे खोखली-सी आँखोंसे मुझे देखते रह गये। मुझे मालूम था वे बराबर डायरी लिखते हैं और उस डायरीमें वे खुद होते हैं, तो उसमें उनके मनका बोझ भी होगा !

मित्र बोले कुछ नहीं, अपनी दराजसे निकालकर दो वर्षोंकी डाय-रियाँ मेरे पास रख गये। दोपहरमें मैंने चालू वर्षकी डायरी उठाई, तो ५-७ दिन पहले पेजपर उन्होंने अपने मानसिक संघर्षका यह सार दे रखा था—

"देख रहा हूँ कि गंभीर होता जा रहा हूँ और जिस प्रसन्नताके सहारे

मौत जैसे मोर्चोंपर भी मैंने हार न मानी, वह बुझती जा रही है। इस तरह में एक धनकुबेरसे निर्धन होता जा रहा हूँ और डर है कि यह निर्धनता मुझे भिखारी न बना दे।

यह क्यों हो रहा है ?

पिछले दो वर्षोंमें मैं अपनोंके द्वारा बहुत पीड़ित हुआ हूँ। क़साई जो जानवरको क़त्ल करता है, वह उस पीड़ासे बहुत कम है। उसका प्रहार एक बार होता है, यह निरन्तर हुआ है। उस पीड़ाका प्रहारके बाद अन्त हो जाता है, यह प्रहारके बाद और भी उफनती है। फिर यह प्रहार उस मनुष्यके हाथों होता है, जिसका हित ही उस प्रहारकी सफलतामें है। यह प्रहार उन हाथों हुए कि जिनका हित मेरे जीवनके साथ नत्थी है।

क्या मैं उनसे कमजोर हूँ ?

जिनके द्वारा ये प्रहार हुए हैं, मैं उनसे कमजोर नहीं हूँ; क्योंकि वे मुझपर निर्भर हैं, मैं उनपर नहीं। फिर ? फिर क्या, मैं अपनी नम्रता और अपार स्नेहसे उन प्रहारोंको सह गया हूँ। मुझे सुख है, संतोष है कि मैंने प्रहारपर प्रहार नहीं, प्रहारपर प्यार ही किया है, पर इसमें संदेह नहीं कि ये चोटें मेरी मस्तीको चाट गई हैं।

संघर्षमें खिलने और खेलनेकी आदत रही है। कभी भय और आशंका मुझे स्पर्श भी नहीं कर पाते। संघर्ष उत्तेजना देता है और वही उत्तेजना संघर्ष लड़ती है ; इस तरह थकानका पास फटकना संभव ही नहीं होता।

फिर मैं थक क्यों गया ?

मैं थक इसलिए गया कि इस संघर्षमें उत्तेजना नहीं, हीनताका धुआँ ही चारों ओर भरा रहा। मैं कुछ कहूँगा, तो इन्हें दुःख होगा, इस भावनासे मैं उस नरकको सहता रहा, जिसे वे पूरी ताक़तसे उभारते रहे और इस तरह, मेरी जीवन-शक्ति कुण्ठित होती गई।

क्या इसका कोई उपाय न था ?

उपाय था असहयोग, दीनता और हीनतासे दूर हो जाना और उन्हें अपनेसे दूर झटक देना, पर स्वभावकी गहरी ममता उन्हें दुलार न पाई और पुचकारसे वे अपनेको संभाल न पाये। मैंने बहुत बार सद्भावनासे दुर्भावना पर विजय पाई है, पर इस बार दुर्भावना इतनी प्रचण्ड है कि मैं उसे ममताकी आँचसे पिघला न पाया और खुद ही उसमें झुलस गया हूँ।

उनपर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

देख रहा हूँ कि मेरे मिटते जानेसे उनपर प्रभाव पड़ता है, पर यह प्रभाव उन्हें उनकी हीनतासे विमुख नहीं करता, उल्टे प्रचंड होकर वे पूछते हैं—यह मिट क्यों रहा है ? वे उस डाक्टरकी तरह हैं, जो रोगको तो समझना नहीं चाहता, पर दवा देनेके लिए आग्रही है। वे अपनेको बदलकर मुझे पलभरमें ताजगी दे सकते हैं, पर यह शायद वे सोचते ही नहीं।

सोच रहा हूँ कि वे बदलेंगे या मैं ही करवट ले जाऊँगा और सीख रहा हूँ कि बहुत नम्रता एवं कोमलताका भी यह युग नहीं है ! "

मित्रकी डायरीमें और भी बहुत कुछ था, पर मेरे लिए अब उसकी आवश्यकता न थी; क्योंकि मेरे सामने स्पष्ट था कि मित्र महाशय साथियोंके आत्महीन व्यवहारसे पीड़ित हैं। यह पीड़ा उनके लिए असह्य है, पर वे करें क्या ? और कुछ कर नहीं पाते, तो घुल रहे हैं।

[२]

जानकारी पूरी हुई, तो जी-जानसे मुझे लिपटी। मेरे मित्र मिट रहे हैं और इस मिटनेमें उनकी ममता है आधार। इस तरह लगता है कि अपनोंको सहकर वे कुछ श्रेष्ठ कार्य कर रहे हैं, पर श्रेष्ठ कार्यका परिचय-संपर्क पाकर मनके भीतर जो चिकनाई आया करती है, वह नहीं आ रही और लग रहा है, जैसे यह सब कुछ शुभ नहीं है, सुकार्य नहीं है।

मैं मित्रके कमरेमें उनके पलंगपर पड़ा सोच रहा हूँ। सोचनेको कोई विशेष विचार केन्द्रमें नहीं है; पर वैसे विचार इतने हैं कि भीड़ लगी है विचारोंकी और उसमेंसे किसीको जानना-पहचानना ही मुश्किल है, तो पाना कहाँ ?

सपनोंमें कहींकी कड़ी कहीं मिल जाती है। मैं भी इस समय ठेठ जागरणमें हूँ, पर सपनोंसे कम नहीं। मेरे भटकते विचारोंकी कड़ी भी यह लीजिए जा मिली है मेरे एक पुराने मित्रके साथ।

उनमें प्रतिभा भी है और पुरुषार्थ भी। उनमें पत्रकार-कलाके गुणोंका अनुपम विकास हुआ है और वे अपना आपा उसे दे पायें, तो एक चमत्कार कर दें। अपने राज्यकी राजनीतिके वे प्रथम पुरोहितोंमें हैं और वे राजनीतिमें ही समाये रहते, तो उस राज्यके मन्त्रि-मण्डलकी सदस्यता तक पहुँचते, पर हुआ यह कुछ नहीं और उन्नतिकी नाव एक मामूली स्कूलकी अस्थायी अध्यापकीतक ही पहुँच पाई। बातें वे भले ही सदा एक ऊँचे धरातलसे करते रहे, पर थके-थके और निचुड़े हुए, जैसे साँस चल रहे हैं और जान निकल गई। प्रतिभा यदि कोई स्थायी तत्त्व है, तो कहना चाहिए कि उनकी पैनी प्रतिभा कुण्ठित हो गई।

पत्नी अनपढ़ है, सो कोई बात नहीं, पर अनपढ़ है और मूर्खताका ऐसा एक भी तत्त्व नहीं, जो उसमें भरपूर न हो। वह जीवनमें एक ही सफलता मानती है—पैसा और इस दृष्टिसे उसका पति एक असफल मनुष्य है—एक अत्यन्त मामूली आदमी, जो परिवारको न रेशम दे सका, न मक्खन।

इन असफलताओंकी जड़में पतिकी विशेषताएँ हैं यह वह नहीं समझ सकती और नई सफलताओंके लिए आज वह नये प्रयत्न नहीं कर पाता, उसका कारण घरका निराश वातावरण है, जिसकी जननी वह स्वयं है,

यह उसे ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता। नतीजा यह कि हर समय उसका विद्रोह भड़का रहता है—बकझक, ठोक-पटक, मारा-पीटी और आँसू उसके जीवन-सहचर हो गये हैं।

मेरे ये मित्र क्या करते हैं? प्रश्न जरूरी है और उससे भी जरूरी इस प्रश्नका उपप्रश्न कि वे इन सबको पत्नीका अपराध मानते हैं या अधिकार? यदि यह अपराध है, तो दण्ड चाहता है; भले ही यह दण्ड हिंसाका 'लात-घूँसा कमर मध्ये' हो या अहिंसाका अनशन और अधिकार है, तो यह स्वीकृति चाहता है।

सचाई यह कि आज न यह अपराध है, न अधिकार; अब तो यह उस परिवारके वातावरणका एक अंग है—अनिवार्य अंग, जिसे सहना है, सहे जाना है; यदि छेड़कर उसे और ज्यादा बढ़ाना न हो!

सोचनेका अवसर तब था, जब यह आरंभ हुआ, पर तब मेरे मित्रने उससे टक्कर नहीं ली। उससे बगलगीर होनेकी, उसे सहकर शान्त करनेकी, पचानेकी चेष्टा की। निश्चय ही पत्नी समझदार होती, तो इस सहनपर नम्र पड़ जाती, कोमल हो उठती, पर मूर्ख थी, सो अकड़ गई और यहां तक कि लकड़ी हो गई—अब टूट सकती है, मुड़ नहीं सकती।

मैं अक्सर देखता हूँ, मेरे मित्र अपने जीर्ण-शीर्ण शरीरसे ८-१० घण्टे काम ले, शामको ५ बजे घर आते हैं। आवश्यक है कि उन्हें घर आते ही चाय मिल जाय, पर उन्हें कभी अंगीठी जागती नहीं मिलती। वे कुछ कहें, तो होहल्ला मच उठे और बकझक, ठोक-पटकका समारोह आरंभ हो जाय। उनकी समझदारी उन्हें सहारा देती है। वे अंगीठी जलाकर चाय बनाते हैं। पीते हैं, पिलाते हैं और शामके भोजनकी तैयारीमें पत्नीको सहयोग देते हैं—इसे शान्त रहनेकी रिश्वत समझिए।

'इसका जी दुखी न हो' और 'यह किसी तरह शान्त रहे' बस इसी

धुरीपर उनकी जीवनचर्याका चक्र घूमता रहता है। दूसरोंके दिल न दुखानेका धुवाँ जैसे उन्हें घेरकर घोट रहा है।

[२]

इन मित्रकी बात पूरी हुई है, तो फिर उन्हीं मित्रकी बात सामने आ गई है और यह लीजिए, दोनों मित्रोंकी बात रल-मिलकर अपनेमें एक हुई जा रही है; जैसे ये दोनों दो न होकर एक ही हों। दोनों मिलकर जैसे एक ही स्वरमें मुझसे पूछ रहे हैं—यह जो हम इतनेसमयसे अपनोंके अत्याचार चुपचाप सह रहे हैं, हमारी किसी निर्बलताका दण्ड है या महत्ताका यश ? और मेरे भीतर जैसे कहींसे उनके प्रश्नके उत्तरमें एक नया प्रश्न गूँज रहा है—किसीकी दुष्टता, मूर्खता या निर्बलताको सहना पाप है या पुण्य ?

प्रश्न एककी जगह दो हो गये हैं, पर दोसे सौ भी हो जायँ, तो क्या; प्रश्नका उत्तर प्रश्न तो नहीं है। मुझे समाधान चाहिए, तो पड़ा हूँ मैं मित्रके पलंगपर अपनी देहसे और जाने कहाँ-कहाँ घूम रहा हूँ अपने मनसे। घूमते-घूमते मैं अपने जीवनके एक बीते संघर्षके बीचसे निकल गया हूँ—और तब मेरे सामने आ गया है वह सूत्र, जो उस संघर्षमें एक दिन मेरे हाथ आ गया था। लग रहा है कि उस सूत्रमें इन प्रश्नोंका समाधान है।

वह सूत्र यह है—तुम जिस संघर्षमें, सहनमें, दौड़-धूपमें, बाजीमें, लगनमें जुटे हो, जूझ रहे हो, वह तुम्हारे लिए ठीक है या नहीं, पकड़े रखने लायक है या छोड़ देनेके काबिल, इसकी कसौटी यह है कि तुम यह देखो कि उस संघर्षसे, दौड़धूपसे, तुम्हारी मानसिक शक्ति—भीतरी शान्ति, सन्तुलन, आनन्द और स्थिरता—बढ़ रही है या घट रही है ?

यदि इस प्रश्नका अपने ही भीतर, अपनेको, अपने आप दिया उत्तर है यह कि बढ़ रही है, तो हार हो या जीत, लाभ हो या हानि, तुम अपनी

जगह खड़े रहो, अपनी धुनमें जुटे रहो, हारकर भी जीतोगे, खोकर भी पाओगे, पर यदि तुम्हारी मानसिक शक्ति घट रही है, तो उस काममें लाभ ही लाभ लग रहा हो या विजयपर विजय सामने दीख रही हो, उसे तुरंत छोड़ दो और इस बारेमें न किसीका परामर्श लो, न कहना मानो, बस तुरंत उससे हट जाओ, उसे छोड़ दो; भले ही लोग इसके लिए तुम्हें लांछित करें, कायर कहें, तुम्हारी खिल्ली उड़ाएँ।

ऐसा लग रहा है कि मैं प्रश्नोंके भँवरसे निकलकर साफ़-सुथरे तटपर आगया हूँ और वहाँसे साफ़ देख रहा हूँ कि मेरे इन मित्रोंने प्रेमसे, ममतासे, उदारतासे, दयासे, सहिष्णुतासे, बुद्धिमत्तासे जो कुछ सहा है, उससे उनकी शक्ति नहीं बढ़ी है; अरे भाई, साफ़-साफ़ यह कि घटी है, तो वह सब पुण्य नहीं था, धर्म नहीं था, सुकार्य नहीं था।

मुझे खुशी हो रही है कि मैं कुछ पा गया हूँ—कुछ क़ीमती चीज़, कामकी चीज, निराली चीज और उस चीजको मैं जो झाड़-पछोड़ कर रहा हूँ, तो मेरे मनमें उभर रहा है यह पूरक सत्य—'जब अपने घरमें, जीवनमें, वातावरणमें, अपने विरुद्ध कोई प्रतिवादी तत्त्व जागे, उभरे या बाहरसे आये, तो उसके पनपते-न-पनपते स्वयं पस्त जानेकी भोली कल्पना न करो, उसे धो-माँजकर हो या झकझोरकर रास्ते दो और यों सब काम छोड़कर वातावरणको शुद्ध, साफ़ और सम कर लो।

यह संभव है कि उस प्रतिवादी तत्त्वके विरुद्ध मनमें क्रोधकी प्रतिक्रिया उपजे और एक क्रूर आक्रमणके साथ उसे मिटा देनेकी भावना जग उठे, अपनेमें उसे मिटा देनेकी ताक़त महसूस हो, तब भी उससे बचो, यही श्रेयस्कर है; क्योंकि वृत्तियोंकी प्रचण्डता विरोधीको चोट पहुँचाये या नहीं, जिस हृदयमें वह घुमड़ती है उसे अवश्य क्षत-विक्षत कर डालती है।

यहीं यह भी—संभव है कि उस प्रतिवाद तत्त्वके संबन्धमें कोमलताकी प्रति-

क्रिया मनमें उपजे और एक नरमीके साथ उसे सह जानेकी भावना जाग उठे, अपनेमें उस सहते रहनेकी ताक़त भी महसूस हो और सफलतामें १०० फ़ी सदी विश्वास हो, तब भी उससे बचो, क्योंकि वृत्तियोंकी दीनता विरोधीको चोट पहुँचाये या नहीं, जिस हृदयमें वह पनपती है, उसे अवश्य मलीन कर डालती है।

इसलिए क्रूरता और दीनता, दोनोंसे बचो और प्रतिवादी तत्त्वको अपनेसे तोड़कर दूर फेंक दो, उससे दूर हो जाओ। उससे असहयोग कर दो; यदि सत्याग्रह करके उसे समा नहीं सकते, पचा नहीं पाते !

अपने दुःखित मित्रकी डायरी पढ़कर, उनके दुःखको जान-समझकर, जो कुछ सोचा है, वह सब संक्षेपमें उनसे कह दिया जाये, यह भाव मनमें जागा कि यह सूत्र बना—'दूसरेकी कमजोरीको सहना, उसे दूर करनेका उपाय करना, जीवनका उत्थान है, पुण्य है, पर इसके लिए अपनेमें कमजोरी लानी पड़े, तो यह पतन है, पाप है, अकार्य है। दूसरे शब्दोंमें किसीकी हीन वृत्तिको अपनी उच्च वृत्तियोंकी ढालपर ले लेना सत्कार्य और स्वयं ही इसके लिए हीन वृत्तियोंसे घिर जाना असत्कार्य है। साफ़ शब्दोंमें हम झुककर, मुड़कर, भले ही किसीको उठा सकें, अपना सकें, पर स्वयं गिरकर तो हम यह नहीं कर सकते !

सन्त कविने शायद इसी सत्यको अपनी भाषामें यों कहा है—"तजो रे मन, हरि विमुखनको संग !"

मैं भी लड़ा, तुम भी लड़े, पर जीता कौन ?

[१]

मेरे एक अभिन्न मित्र थे—थे इसलिए कि अब वे इस दुनियामें नहीं हैं। हम दोनों आपसमें इतने घुल-मिल गये थे कि दो होकर, दो दिखाई देकर भी, दो न थे।

दुनियाका स्वभाव है कि ऐसा मेल उसे भला नहीं लगता और इस दुनियामें ही कुछ हैं, जो मौक़ेकी तलाशमें रहते हैं कि कब उनके भागों खटाई पड़े।

मेरे मित्रकी पत्नी मर गईं और मेरे कुटुम्बकी एक कन्याके रिश्तेको लेकर हम दोनोंमें खासा खिंचाव आ गया। मैंने कोशिश भी की, पर खिंचाव यही नहीं कि ढीला नहीं पड़ा; यह भी कि उसमें दिन-दिन तनाव आता गया। अब हमारा मिलना-जुलना और बोलचाल भी बन्द। औरोंने इसका लाभ उठाया और उन्हें अपने हाथोंमें ले लिया।

एक दिन विश्वसनीय समाचार मिला कि वे मुझपर यह दीवानी दावा करनेवाले हैं कि मैंने उनकी स्वर्गीय पत्नीका धरोहर रक्खा ३०००) का जेवर मार लिया है। सुनकर गुस्सा भी आया, हँसी भी आई।

समयकी बात उसी दिन शामके झुटपुटेमें मुझे मिल गये वे और बच-कर—आँख बचाकर—एक तरफ़को निकलने लगे, पर मैं क्यों चूकता। मैं उनके सामने जा टिका और कन्धे हिलाकर उनसे कहा—"अरे भाई, अभी तो दावा ही लिखा गया है, अभीसे बचकर निकलने लगे, तो आगे क्या करोगे? हमने तो यहाँतकका इरादा बाँध लिया है कि मुकदमा जमकर लड़ेंगे और तुम्हें ही जेल भिजवाकर हटेंगे, पर मित्रताका तकाज़ा

तो यह है कि तुम्हें जेल हो जाय, तो मैं तुम्हारी और तुम्हारी बच्चीकी खबर रक्खूँ और मुझे जेल हो जाय, तो छूटनेके दिन तुम ही दरवाजेपर मिलो, पर तुम तो अभीसे साथ छोड़ रहे हो!"

सुनकर उनका खून जम-सा गया। मेरा हाथ पकड़कर बोले—"घरतक चलो" और घर पहुँचते ही मेरे पैर पकड़कर रोने लगे। मैं भी रो पड़ा और संक्षेपमें बात यह हुई कि हम दोनों फिर ज्यों के त्यों एक हो गये।

[२]

मेरे एक दूसरे मित्र हैं—डबल एम० ए० और कॉलेजके प्रोफ़ेसर! नगरमें उस दिन एक सम्मेलन था। वातावरण असफलताका था, पर मेरे कहनेसे प्रोफ़ेसर साहबने खुद शहर भरमें ऐसा रसीला ऐलान किया कि हवा बन्ध गई।

सम्मेलन सफलताके किनारे छू गया, पर जब स्वयं प्रोफ़ेसर साहब माइकपर आये, तो एक दुर्घटना हो गई कि वे कुछ कह रहे थे और मैंने उन्हें संक्षेप करने को कहा, तो वे भड़क उठे। यह भड़क मुँह बनाकर ही न रुकी, यहाँतक मुँह चला बैठी कि मैं उनकी गालियोंका शिकार और गालियाँ भी मामूली नहीं, नम्बरी जन्नाटेदार!

लाउड स्पीकर विवेकहीन निकला और उसने उन्हें भी फैला दिया। श्रोता अप्रसन्न, तो साथी अवसन्न, पर मैंने तुरन्त उन्हें माइकके पाससे हटाकर एक सुरीले गलेकी कवयित्रीको वहाँ खड़ा कर दिया।

सम्मेलनके साथी लिपटे कि प्रोफ़ेसर मुझसे माफ़ी माँगे। वातावरण फिरसे गरम होनेको ही था कि मैंने कहा—"जब मुझे यह अधिकार है कि मैं उसे गली-गली ऐलान करनेको कहूँ, तो उसे भी यह अधिकार क्यों नहीं

है कि ग़ुस्सा आ जाए तो चार कड़वी बात कह ले ?" फिर यह मेरी उनकी व्यक्तिगत बात है, कोई सार्वजनिक मसला नहीं !

बात समाप्त हो गई, पर कई दिनतक मेरा मित्र प्रोफ़ेसर मेरे पास न आया। मेरी तबियत खराब थी, इसलिए मैंने उसे एक कार्डपर ये पंक्तियां लिख भेजीं—

मैंने तो समझा था नखरा,
पर यह निकला ग़ुस्सा,
नखरेपर बलि जाऊँ तेरे,
ग़ुस्सेपर दूं घुस्सा !
नखरा है, तब भी झट आओ,
तुमको चाय पिलाऊँगा,
ग़ुस्सा है, तब भी आओ तो,
चप्पलसे चमकाऊँगा !

दूसरे दिन कॉलेजमें उन्हें यह पत्र मिला, तो समय काटना, पहाड़ से थे उन्हें भारी हो गया और छुट्टीका घण्टा बजते ही सीधे मेरे पास आये। मुझे पता था ही कि वे आयँगे, तो बस आते ही उन्हें गरम चाय तैयार मिली।

वे माफ़ीकी भूमिका बाँधने लगे, तो मैंने कहा—"इस भूमिकामें क्या रक्खा है भाई, अब तो चायकी पुस्तकका रसपान कीजिए।"

चाय पीकर बोले—"उस दिन बड़ी बेवकूफ़ी हो गई भाई साहब !"

मैंने आँखें तरेरकर कहा—"किससे ?" और बस हम दोनों हँस पड़े।

[३]

उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक हो रही थी और पूज्य टण्डनजी सभापति थे। गांधी-इरविन समझौतेके दिनोंकी बात है। टण्डनजी किसी

कामसे दस मिनटके लिए बाहर गये, तो उपसभापति पं० जवाहरलाल नेहरू उनके आसनपर आ गये।

किसी रूलिंगकी बात चल रही थी और बातोंमें गरमी आ रही थी कि श्री महावीर त्यागीने एक विधान-ग्रन्थ खोलकर उनकी मेजपर रखते हुए कहा—"देखिए पेज नम्बर साठ, आप रूलिंग देनेके लिए बाध्य हैं !"

तकाजा और प्रतिवाद जवाहरलालके स्वभावको पचते नहीं। उनकी आँखें तन गईं और नसोंमें बहता खून दौड़ चला—पेंसिलकी नोकसे किताबको मेजके नीचे फेंक, वे बोले—"मैं ऐसी ६० किताबें रोज लिख सकता हूँ।"

त्यागीजीने इसे अपमान माना कि उनके मुँहसे निकला—"यह सभा-पतिजीकी ज्यादती है और उधरसे वे किताब फेंक सकते हैं, तो इधरसे भी कुछ फेंका जा सकता है; मसलन···!

धीरेसे कहे उनके अन्तिम शब्दने, जिसमें ऊ और आकी मात्रासे जुड़े सिर्फ दो ही अक्षर थे, पूरे भवनमें हड़कम्प मचा दिया और दोनों तरफ़के मित्र एक साथ चिल्ला उठे—माफ़ी माँगिए–माफ़ी माँगिए।

मेज पीटनेका वातावरण सिर पीटनेके वातावरणसे भी रुद्र हो उठा कि तभी लौट आये टण्डनजी अपने दोनों कन्धोंको आदतका टंकोरा-सा देते हुए। अब दोनों तरफ़के साथी उन्हें अपना-अपना पक्ष समझानेको बेचैन कि जवाहरलालने कहा—"मेरे और त्यागीके बीच यहाँ कुछ निजी बातें हो गई हैं, पर मैं समझता हूँ कि यह मुनासिब होगा कि हम उस मसले-पर विचार करें, जिसपर पहलेसे कर रहे थे। मेरा खयाल है कि त्यागी भी इससे मुत्तफ़िक होंगे !"

त्यागीजी बेचारे मुत्तफ़िक न होते, तो क्या करते ! मीटिंगके खत्म होनेपर कुछ लोगोंकी दिमागी खाज उभरी कि उस घटनापर विचार हो,

पर तभी उन्होंने देखा कि जवाहरलालजी त्यागीका हाथ पकड़ उन्हें अपनी मोटरमें बैठा ले गये हैं।

[४]

ये हुए तीन संस्मरण, पर तीन होकर भी जैसे एक ही तो; क्योंकि नाम-रूपकी भिन्नतामें भी बात तो इतनी ही है कि दो मित्र आपसमें दूध-मिश्रीसे मिले, एक दिन आ गया गुस्सा और हो गये नीम—बस दोस्ती खत्म और बोलचाल बन्द; यानी हो गई लड़ाई!

हाँजी; लड़ाई तो हो ही गई, पर प्रश्न तो यह है कि अक़्ल बड़ी है या भैंस? और सचमुच अक़्ल ही बड़ी है, तो इस पहले प्रश्नमेंसे यह नया सवाल-भी पैदा होगा ही कि यह क्या बात है कि जो आज मिश्री हैं, वे कल नीम हो जाएँ और जो एक दूसरेसे मिले बिना, आज भोजन नहीं पचा पाते, वे कल एक दूसरेकी सूरत देखनेसे भी बेज़ार हो उठें?

यह गुस्सेकी काली करामात है और गुस्सा है आदमीकी मजबूरी। बड़े-से-बड़ा क्रोधी भी नहीं चाहता कि उसे क्रोध आये, पर वह आता है और ऐसा आता है कि आदमी भूत हो जाये!

मान गये कि आदमीको गुस्सा आयगा ही और दो मित्रोंमें आपसी लड़ाइयाँ भी होती रहेंगी ही, इसलिए यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि गुस्सा क्यों आये, प्रश्न यह है कि गुस्सा जब आ ही जाये, तो हम क्या करें?

इस जरूरी और महत्त्वपूर्ण प्रश्नका उत्तर पहले दो संस्मरणोंमें है कि यदि दुर्भाग्यसे दो मित्रोंमेंसे किसी एकको गुस्सा आ ही जाय, तो यह क्यों जरूरी हो कि दूसरा भी आपेसे बाहर हो? क्या हम किसीको मैले कपड़े पहने देखकर अपने साफ़ कपड़ोंपर धूल डालते हैं? किसी लंगड़े या कानेको देखकर अपनी टांग तोड़ लेते या आँख फोड़ लेते हैं?

नहीं, हम ऐसा नहीं करते ! यह ठीक भी है , तो फिर अपने मित्रको गुस्सा आ जानेपर हम स्वयं भी आग-बबूला होना क्यों जरूरी समझते हैं ?

जब हमारे मित्रको गुस्सा आता है, तो क्या यह कोई अच्छी बात होती है ? नहीं, तो फिर हम एक बुरी बातकी नकल क्यों करें ? उन्हें गुस्सा आ गया, तो आ गया, पर आप यत्न करके, उसे मित्रकी एक मजबूरी मानकर चुप रहिए, शान्त रहिए, मधुर रहिए और इस तरह अपने मित्रकी मदद कीजिए।

[५]

"और क्यों जी, जो दूसरेके गुस्सेको देखकर या बातचीतमें दूसरेके साथ ही साथ हमें भी गुस्सा आ जाए, तो क्या करें ?"

प्रश्न उचित है, आवश्यक है; क्योंकि सोच विचारकर तो किसीको गुस्सा आता नहीं। कहा नहीं कि यह तो आदमीकी एक मजबूरी है और मजबूरीपर काबू पाना अभ्यासका, साधनाका विषय है, इसलिए गुस्सा हमें भी आ ही जाए, तो हम क्या करें ?

इस प्रश्नका उत्तर तीसरे संस्मरणमें है कि गुस्सा आ गया; लड़ लिये और लड़ लिये कि बस फिर एकके एक हो गये।

गुस्सा आया, लड़ लिये और गुस्सा उतरा कि बस ज्योंके त्यों, यह एक मनुष्यका चित्र है।

गुस्सा आया लड़ लिये और गुस्सा उतरा कि एक दूसरेको मिटानेमें जुट गये, यह एक भेड़ियेकी तस्वीर है।

गुस्सा आनेपर, गुस्सेमें गाली-गलौज, मार-पीट कर लेनेपर भी आदमी आदमी ही रहता है, पर गुस्सा उतर जानेपर भी गुस्से जैसा ही व्यवहार करनेसे आदमी भेड़िया हो जाता है और जो दूसरेको गुस्सा आनेपर भी

खुद शान्त रहे, गुस्सा न करे, तो आदमी देवत्वकी ओर बढ़ने लगता है। आप आदमी हैं, उन्नति कीजिए, देवता बनिये, पर ऐसा न कर सकें, तो कम से कम आदमी तो बने रहिए!

[६]

और क्यों भाई; हम आपसमें लड़ते क्यों हैं? लड़ाईकी पृष्ठभूमि है प्रतिद्वन्दिता और उसका उद्देश्य है दूसरेको, सामनेवालेको, प्रतिद्वन्दीको हराकर उसपर विजय पाना!

अच्छा, इस विजयकी कसौटी क्या है? मैं युद्धशास्त्रकी बात नहीं करता, आपसी लड़ाइयोंकी बात करता हूँ, जो बातों-बातोंमें छिड़ जाया करती हैं।

लड़ाई मेरी भूलसे शुरू हुई या आपकी, वह हो गई, बज गई और खूब बजी। दोनोंने अपने हाथ दिखाये, किसीने कसर न छोड़ी, अब प्रश्न यह है कि तुम भी लड़े, मैं भी लड़ा, पर जीता कौन?

क्या वह जीता, जिसने ज्यादा गालियाँ दीं या ज्यादा हाथ मारे? ना, मैं उसे विजयी माननेसे इन्कार करता हूँ और कहना चाहता हूँ कि जीता वह, जो गुस्सा उतरनेपर, शान्त होनेपर, विवेकके जागनेपर और यह सोचनेपर कि बड़ी बेवक़ूफी हो गई, जो गुस्सेके चक्कर चढ़-घूमे, न झिझकमें पड़ता है, न संकोचमें और सीधा उसके घर पहुँचता है, जिससे लड़ाई हुई थी और कड़वाहटको मिठासमें बदलकर वातावरणको फिरसे साफ कर देता है।

अपने मित्रोंमें कभी अपनी ओरसे लड़ाईकी हवा न आने दीजिए, आपके किसी मित्रको गुस्सा आ ही घेरे, तो स्वयं शान्त रहिए, बातको तरह दीजिए, टाल दीजिए और आपको भी गुस्सा आ ही जाए, तो लड़ लीजिए, पर गुस्सेके उतरते ही मित्रके पास पहुँचिए और चाय पीकर ही उठिए।

एक तस्वीरके दो पहलू !

[१]

मैं एक जंगली नागरिक हूँ। जंगली नागरिक कि रहता हूँ नगरमें, खाता-पीता और जीता हूँ नगरमें, पर जीनेका रस मुझे मिलता है जंगलोंसे, खेतोंसे, उपवनोंसे, झीलोंसे, पर्वतोंसे। जंगलमें बैठकर, प्रकृतिके साथ मिलकर, बातें करना, हँसना, खेलना मेरे जीवनका एक खास शौक है।

मेरे मित्रोंमें और परिवारमें ऐसे भी लोग हैं, जो मुझे मेरे इस स्वभावके कारण घुमक्कड़ कहते हैं और ऐसे भी, जो बातचीतमें घुमाव-फिराव पसन्द नहीं करते और सीधे-सीधे मुझे आवारा कहते हैं। उन दोनोंकी तर्क-शैली संक्षेपमें यह है—"अरे भाई, बैठना-उठना चार साथी-मित्रोंमें; यह क्या कि जंगलमें इकले जा पड़े!" उन्हें समझानेको कभी मैं कहता हूँ कि भई, जंगलमें जाकर भी जो अपनेको इकला महसूस करे, उससे अधिक अभागा कौन होगा, तो वे इस तरह हँसते हैं कि मैंने जैसे कोई एकदम पागलपनकी बात कह दी हो!

तो जंगलोंमें घूमना और यूँ कहूँ कि नित-नये जंगलोंमें घूमना मेरा स्वभाव है। उस दिन घूमने निकला, तो जा निकला बन्दरोंके बागमें। यहाँ सैकड़ों बन्दर रहते हैं। वे क्या खाकर जी-पनप रहे हैं, मैं नहीं जानता, पर हाँ मंगलके दिन नगरके दो-चार पुराने विचारोंके सज्जन यहाँ आते और इन्हें हनुमानका रूप समझ, चने और गुड़ अवश्य खिला जाते हैं। पता नहीं उन्हें उससे लोक-परलोकमें क्या फल मिलता होगा, पर यह अवश्य है कि यहाँका बानरदल न तो मनुष्योंसे द्वेष ही रखता है और न भय ही

खाता है। पालतू पशुकी तरह प्रेमके मधुर पाशमें बँधकर हिल-सा गया है।

मैं एक वृक्षकी छायामें बैठ गया और संस्कृतका मधुर प्रेमाभिनय 'मालती-माधव' पढ़ने लगा। अद्भुत रचना है। मालतीकी आतुरता, माधवका उत्कट अनुराग, मकरन्दकी प्रेमपूर्ण चातुरी और मदयन्तिकाकी लाजभरी प्रेम-मुद्राएँ पाठकको कोलाहलपूर्ण विश्वसे उठाकर प्रेमके उल्लासमय विश्वमें पहुँचा देती हैं। पढ़ते-पढ़ते मैं झूम-झूम उठा, खो-खो गया और एक ही प्रकरणको बार-बार पढ़ने लगा। देह शिथिल हो गई। आँखोंमें नशा-सा छा गया। यह दुनिया ही निराली है।

[२]

नशा जरा ढीला पड़ा, तो मेरा ध्यान वानरदलकी ओर चला गया। वे अपने ही रागमें मस्त थे। एक वृक्षके नीचे कुछ वानर-शिशु आपसमें खेल रहे थे। एक बच्चा दूसरेकी पीठपर चढ़ने लगा, तो तीसरेने उसकी पूँछ पकड़कर खींच ली। जिसकी पूँछ खींची गई थी, उसने उलटकर खींचनेवालेका कान काट लिया।

एक बच्चा पासके छोटे-से वृक्षपरसे नीचे उतरा और उसने इन खेलते बच्चोंमेंसे एकका मुँह चूम लिया। उस छोटे शिशुने भी उसका मुँह चूमना चाहा, पर अपनी लघुताके कारण वह असफल रहा। दो-तीन बच्चोंने यह बात भाँप ली और उस बड़े बच्चेको बलपूर्वक पकड़, धरतीपर लिटा दिया। छोटे शिशुने यह देखा, तो उसने लौटकर तड़ातड़ उसे चार बार चूमा और पेटपर एक मीठी कटौती भी काटी। अब वह फुदककर नीचेसे उठा और उनमेंसे एकको गुदगुदाकर फिर पेड़पर चढ़ गया। प्यारमें हार भी जीत है, जीत भी हार है। चारों ओर शैशवका साम्राज्य-सा छा गया—चारों ओर सरसता बरस-बरस गई।

[३]

एक दूसरे वृक्षके नीचे एक वानरमाता अपने दो शिशुओंको सुलानेका प्रयत्न कर रही थी। हाँ, उसीके होंगे दोनों, पर वे अपनी बालसुलभ चंचलताके कारण इधर-उधर उछल-कूद मचानेकी चेष्टामें थे। माँ जबतक एकको चुमकारकर सुलानेका प्रयत्न करती, तबतक दूसरा उठ दौड़ता और जब वह दूसरेकी ओर दौड़ती तो पहला अपनी बालक्रीड़ा आरंभ कर देता। जैसे-तैसे जबतक वह एकको हाथोंमें दबोच पाती, तबतक दूसरा उसकी कमरपर चढ़, उसे धराशायी करनेके विफल, पर अत्यन्त अध्यवसायपूर्ण प्रयत्नमें जुट पड़ता। माँ अत्यन्त व्यस्त थी और यों भी कि परेशान थी, पर उसके मुखमण्डलपर झुँझलाहटका कोई चिह्न न था।

[४]

एक तीसरे तरुकी शीतल छायामें एक वानर-दम्पति पृथक् ही अपने प्रेमका वितान तन रहे थे। वानरी पैर फैलाये बैठी थी और वानर उसकी एक जंघापर अपना मस्तक रखे, मीठी नींद ले रहा था। उसका एक हाथ वानरीके सम्पूर्ण कटि भागको अपनेमें लपेटे था; मानो किसी ऋषिका [illegible] विपद्ग्रस्त अबलाकी रक्षा कर रहा हो। वान- [illegible] देवबालाके वरदहस्तकी भाँति वानरके ललाट प्रदेशपर विलसित हो रहा था। वानरके मुख-मण्डलपर सात्त्विक शान्तिकी सरल आभा सुप्त सौन्दर्यकी प्रकाशमालाके साथ छिटक रही थी और वानरीकी चमकीली एवं मादक आँखोंमें प्रोद्भासित हो रहा था प्रेमका पुण्य प्रतिबिम्ब; मानो प्रशस्त प्रकाशपूरित चन्द्रकी विमल ज्योत्स्ना-द्वारा प्रक्षालित फूलके दो सुन्दर कटोरोंमें निर्मल ओस-बिन्दु प्रोल्लसित हो रहे हों।

पुनीत दाम्पत्य महामायाकी कल्याणमयी विभूति है। पारस्परिक

प्रेमसे यह अनुप्राणित होता है और विश्वासके बलसे पाता है यह सम्बल। आत्मनिवेदनका यह सजीव चित्र है और प्रकृति-पुरुषके सम्मिलनका पुण्य प्रतिबिम्ब।

[५]

चारों ओर प्रेमका यही साम्राज्य छाया हुआ था। पशु-उपाधिवाले इस वानर-जीवनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। सोचने लगा—इनमें परस्पर कितना प्रेम है। इनका जीवन कितना सरल है। न ईर्षा, न द्वेष, न दूस-रोंको गिराकर स्वयं आगे बढ़नेकी पतित भावना। प्रकृतिकी पुनीत गोदमें ये अलग ही अपनी दुनिया बसाये बैठे हैं। मैं कविके कल्पित प्रेम-अप्सरा कपियोंकी इस प्रत्यक्ष दुनियाका तुलनात्मक विवेचन करता हुआ अपने घरकी ओर चल पड़ा।

मैं पहले भी कई बार यहाँ आया था, पर आजके इस निरीक्षणसे वानर-दलके प्रति मेरे हृदयमें एक प्रकारकी आत्मीयता हो आई। फलतः आज यहाँसे चलते समय मैंने हृदयमें एक मीठी कसकका अनुभव किया।

निजत्व क्या है? इसका उद्गम कहाँ है? इसमें इतना आकर्षण क्यों है? जीवनके अन्वेषणीय रहस्यसे अनुप्राणित इन प्रश्नोंका समाधान दो हृदयोंकी अनुकूलता एवं विराटके साथ सूक्ष्मकी एकत्व आकांक्षामें सन्निहित है, पर इसे हृदयकी मूक भाषा समझनेवालोंके अतिरिक्त कौन अनुभव करेगा?

[६]

मैं अपनी विचार-वाटिकामें एकाकी विहार करता हुआ धीरे-धीरे घरकी ओर आ रहा था। अचानक कहीं पास ही वानरदलकी क्रोधभरी चों-खोंने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आँखें ऊपर उठा, मैंने जो दृश्य

देखा, उसने मुझे स्तब्ध कर दिया, मैं अवाक् रह गया !

एक जालीदार गाड़ीमें पचास-साठ वानर बन्द थे। सभीके मुख-मण्डलपर क्रोधकी कठोरता ताण्डव कर रही थी। एक दूसरेको फाड़ खानेको तैयार था, सभी घायल थे, सभी क्षुब्ध !

गाड़ीवानने बताया—"ये सुन्दरपुरसे पकड़कर हरद्वारके जंगलोंमें भेजे जा रहे हैं।"

मेरे कहनेपर गाड़ीवानने गाड़ी ठहरा दी। मैं और भी पास आ, उन्हें गौरसे देखने लगा।

देखा—एक वानर शिशु, जिसके सूखे मुखपर भूखकी दीनता बरस रही थी, दूध पीनेकी इच्छासे अपनी माताकी गोदकी ओर बढ़ा, पर समीप आते ही माताने उसे नोचना प्रारम्भ कर दिया और फिर तो उसका मस्तक अपने दोनों हाथोंमें दबाकर इस तरह चबाया कि खून बह निकला, बच्चा चिल्लाया, तड़पा, पर माँके हृदयपर उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ।

मातृत्वके साथ पैशाचिकताका ऐसा मर्मभेदक संयोग देखनेका मुझे कभी अवसर न मिला था। मेरी अन्तरात्मा काँप उठी। मैं इससे अधिक देखनेका साहस न कर सका।

यदि सागर ही शुष्क हो जाये, उसमें ही धूल उड़ने लगे, तो अन्यत्र जलप्राप्तिकी आशा कौन मूर्ख करेगा ? मातृत्वमें भी यदि निर्दयता निवास करने लगे, तो जीवनमें किसी अन्य स्रोतसे स्नेह या सरसतावल्लरीके कुसुमित होनेकी संभावना कौन सहृदय करेगा ?

गाड़ीवानको प्रस्थानका संकेतकर, मैं चल पड़ा। दूरतक वानरोंके खींच-खाँचका भीषण निनाद मुझे सुनाई देता रहा।

यह दृश्य मेरे पूर्व परिलक्षित दृश्यके बिल्कुल प्रतिकूल था, यों कहिए—ये दोनों एक ही तस्वीरके दो पहलू थे !

मैं सोचने लगा—जो प्राणी उपवनमें प्रेमकी पुनीत प्रतिमा, सरसताकी सुन्दर निधि और स्नेहका सागर है, वही गाड़ीमें बैठकर दानवताका अवतार, क्रोधकी ज्वालामुखी एवं हृदय-हीनताकी मूर्त्ति कैसे हो गया?

हृदयमें एक हूक उठी—स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यमें यही तो अन्तर है!!

जी, वे घरमें नहीं हैं !

यह भी अच्छा बहाना है, जी हाँ यह भी अच्छा बहाना है, पर अच्छा बुरा तो बादमें देखा जाएगा, पहले यह तो बताइए कि यह बहाना क्या चीज है ?

अरे, आप यह भी नहीं जानते कि बहाना क्या चीज है। इसे तो छोटे-छोटे बच्चे भी जानते हैं। आप भी कमालके सवाल पूछते हैं भाई साहब ! मेरा छोटा पुत्र अभी छः सालका है। उस दिन वह मेरी जेबमें हाथ डाल रहा था कि अचानक बाहरसे मैं आ गया। मुझे देखते ही बोला पिताजी, देखिए, आपकी जेब फट रही है, इसमें पैसे न डालिएगा, नहीं तो निकल पड़ेंगे। मैं अवाक् उस छोटेसे बच्चेकी तरफ़ देखता रह गया कि क्या बहानेकी पट्टी पढ़ाई है बेटेने मुझे। अब चपत मारना तो दूर, घुड़की देनेका भी तन्त बिगड़ गया और मुझे कहना पड़ा कि बेटा, अपनी माँसे कहना कि इसकी मरम्मत कर दे। बेटा जान उस समय शायद सोच रहे होंगे कि जेबकी मरम्मत तो बादमें होगी, इस समय तो हमने तुम्हारी ही मरम्मत कर दी।

यह है बहाना और आप पूछ रहे हैं कि बहाना क्या चीज है ? और हाँ, आप मुझसे यह सब क्यों पूछ रहे हैं। आप श्रीमती ज्ञानवती जीके यहाँ तो अक्सर जाते रहते हैं। वे इस कलाकी पूरी पंडित हैं। आप चाहें, तो वे इस कलापर भाषण दे सकती हैं। याद नहीं, उस दिन हम लोग उनके घर बैठे थे। उनके पतिका स्वभाव उदार है और दूसरोंको खिला-पिलाकर वे खुश होते हैं। उन्होंने धीरे-से कहा—सब लोगोंके लिए थोड़ी चाय तो बनवाओ।

सुनते ही श्रीमतीजीका दिमाग [illegible] हो गया और उन्होंने ऐसी कड़वी आँखोंसे उन्हें घूरा कि जैसे उन्होंने अपनी नई शादीका ही प्रस्ताव

किया हो, पर छोटे मियाँ सो छोटे मियाँ, बड़े मियाँ सुभान अल्लाह; उनके पति भी पूरे औघड़ निकले और जरा जोरसे बोले---हाँ भई, चाय-वाय तो बनवाओ।

श्रीमतीजीका पारा १०५पर पहुँच गया। ठीक भी है अभी तक तो चाय ही थी अब उसमें वाय और लग गया। चायके साथ वायका मतलब है पकौड़ी!

उस दिन पार्टीमें वकील साहब भी थे। वे ऐसे मौक़ोंकी तलाशमें ही रहते हैं। अपनी दार्शनिक मुद्रामें बोले---हाँ भाई, पंडितजीका प्रस्ताव तो त्रिपुरी कांग्रेसके पन्त-प्रस्तावसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, हम लोग इसका बहु सम्मतिसे नहीं, सर्व सम्मतिसे समर्थन करते हैं।

श्रीमतीजीने देखा कि अब मामूली दवा काम नहीं दे सकती। उन्होंने भैयाजीकी तरफ़ देखा। भैयाजी हर घड़ी कोई न कोई गोरखधन्धा बाँधनेमें मास्टर हैं। दोनोंमें इशारे हुए और तब श्रीमतीजीने कहा---चलिए, मैं आज आप लोगोंको गुलाब रेस्टोरेन्टमें चाय पिलाऊँगी। वकील साहबने उत्फुल्ल होकर इस प्रस्तावका भी समर्थन किया और सब लोग उठ चले, पर श्रीमतीजी ऐसे रास्तेसे चलीं कि वकील साहबका घर रास्तेमें पड़ गया। वे सबको लिये उसमें घुस गईं और उनके पुरुषार्थसे चाय-वाय ही नहीं, मामला हलवेतक पहुँच गया। वकील साहब बहुत कुलमुलाये, पर उनकी एक न चली।

यह बहानेका एक उत्तम उदाहरण है। कहिए, अब भी आप समझे या नहीं कि बहाना क्या चीज़ है?

"जी, खूब समझ गया। सचमुच आप जैसा समझानेवाला बड़े भाग्यसे मिलता है, पर ऐसा मालूम होता है कि आपकी राय यह है कि जब भगवान्‌के यहाँ बुद्धि बट रही थी, तो आप अगली पंक्तिमें थे और मैं सो रहा था।

क्या बहानेकी खुबकल्ल उड़ा रहे हैं आप। मेरा प्रश्न यों फुर्र होनेवाला नहीं, जरा गहरा है। मैं पूछ रहा था कि यह बहाना आखिर है क्या चीज, पर आप क्या समझेंगे इस बातको। लीजिए, मैं ही बता रहा हूँ, आपको अपने प्रश्नका उत्तर—बहाना एक पर्दा है।"

"पर्दा? बहाना एक पर्दा है!"

"जी हाँ, बहाना एक पर्दा है, पर घूँघट या बुरकेका पर्दा नहीं; सचाई और मनुष्यके बीचका पर्दा है यह। नहीं समझे आप। समझें भी कैसे। आखिर आपकी अक्ल सीमेंटकी चादर-सी नहीं, लाल क़िलेकी दीवार-सी मोटी है। अरे भाई, मनुष्य जब सचाईका सामना नहीं कर पाता, तो बहानेकी, पर्देकी, आड़ लेता है।

लो, यों समझो कि रामलालने झंडासिंहसे १००रुपये हाथ उधार लिये कि ६ फरवरी को लौटा दूँगा। आज है ६ फरवरी। झंडासिंह अपने रुपये माँगने रामलालके घर आया, पर रुपयोंका अभी वहाँ प्रबन्ध नहीं। अब सचाई यह है कि रामलाल झंडासिंहसे अपनी मजबूरी कहे और कुछ समय रुकनेकी प्रार्थना करे, पर इस सचाईके सामने आते उसे आती है शर्म, तो झंडासिंहके पुकारनेपर वह कहलवा देता है—वे घरमें नहीं हैं। झंडासिंह लौट जाता है और यों रामलाल सचाईके सामने आनेसे बच जाता है। कहिए बहाना एक पर्दा है या नहीं? तो अब आई आपकी समझमें मेरी बात? सच बात यह है कि जितनी देरमें दिल्लीके चाँदनी चौकसे राजपूतानेका ऊँट गुजर जाता है, उतनी देरमें आपकी समझमें बातका प्रवेश होता है। फिर भी भाई, आप आप हैं और हम हमीं हैं।

अपने मकानपर दुश्मन भी आ जाये, तो मित्र हो जाता है, यह हमारे देशका पुराना संस्कार है, पर आजकल बहुत बार यह भी होता है कि मित्र यदि अपने मकानपर आ जाय, तो वह लौटते-लौटते दुश्मन हो जाता है।"

यह कैसे ?

"कैसे इसमें क्या थी, साफ़ बात है। समझ लीजिए कि शर्माजी एक सार्व-जनिक कार्यकर्ता हैं। प्रातःकाल चाय पीकर घरसे निकले थे कि ९ बजेतक लौट आएँगे और आकर खाना खाएँगे, पर आर्यसमाजके वार्षिक उत्सवके कार्यमें ऐसे उलझे कि दो बज गये। वहाँसे चले, तो नेत्र-चिकित्सा-कैम्प वालोंने पकड़ लिया और यों शामको ६ बजे घरमें घुसे। आते ही श्रीमती जीका कुछ गरम और कुछ गम्भीर भाषण सुना और तब ज़रा पलंगपर तिरछे हुए, पर अभी पूरी तरह पैर खोले भी न थे कि बाहरसे आवाज आई—शर्माजी! उन्होंने चाहा कि वे यह आवाज न सुनें, पर यह इकली हो तभी तो वे इसे न सुनें। पुकारनेवालेने और भी जोरसे कहा—शर्माजी, और तुरन्त दोहराया—अरे भाई शर्मा साहब हैं ?

सत्य बड़ी चीज है और इस समय सत्य यह है कि शर्मा साहब यहाँ हैं। इस सत्यके साथ ही यह भी सत्य है कि वे दिनभरकी सेवाओंके ही कारण बहुत थके हुए हैं और इसे भी संसार सत्य ही मानता है कि थके हुए आद-मीको आराम करनेका, सुस्तानेका पूरा अधिकार है।

इतने सत्योंको इकट्ठाकर शर्माजीने पुकारनेवालेसे कहलाया कि मैं कल मिलूँगा आपसे, इस समय बहुत थका हुआ हूँ।

जानते हैं आप, क्या होगा इसके दूसरे दिन। एक जगह आप सुनेंगे—अरे भाई, अब तो शर्मा साहब बहुत बड़े आदमी हो गये हैं। दूसरी जगह सुनाई देगा—अंगरेज तो चले गये हिन्दुस्तानसे, पर शर्मा साहब अब भी अंगरेजों-की तरह समय निश्चित करके तब मुलाकात करते हैं। तीसरी जगह यह भी कि क्या ठीक है भैया, शर्मा साहबके दिमागका, अपनेको पूरा लाट साहब समझते हैं।

कहिए, घर आनेपर दोस्त ही दुश्मन हो गये या नहीं ? इस बीमारीसे

बचनेका एक ही उपाय है कि बाहरसे किसीने पुकारा कि शर्माजी हैं और तुरन्त श्रीमतीजीने उत्तर दिया कि जी, वे घरमें नहीं हैं। बस आनेवाले पंडितजी हों या बाबूजी, शेखजी हों या सरदारजी, खरामा-खरामा लौटते नजर आएँगे और न कहीं नाराजीका नाम, न लन्तरानियोंके लच्छे। यह बहाना भी हकीम लुकमानका ही पूरा नुस्खा है।

हाँ, नुस्खा तो यह अचूक है, पर इसमें जरा-सी सावधानीकी आवश्यकता है। मेरे पिता एक वैद्य थे। उनके पास एक रोगी आया, जिसकी आँखें दुख रही थीं और दाँतोंमें दर्द था। उन्होंने उसे दोनोंकी दवाएँ दे दीं, पर उस मूर्खने आँखोंकी दवा तो दाँतोंमें मल ली और दाँतोंकी दवा आँखोंमें डाल ली। उसे जो मजा इससे आया होगा, उसे आप खुद ही समझ सकते हैं।

यही हालत इस लुकमानी नुस्खेकी है। इसमें जहाँ जरा-सी चूक हुई कि बस गुड़-गोबर एक हुआ। बाहरसे किसीने आवाज दी कि पिताजीने अपने छोटे लड़केको धीरेसे समझाया—बेटा, कह दे कि पिताजी घरमें नहीं हैं। सरल बालक झूठ बोलना क्या जाने। वह जोरसे कहता है, मेरे पिताजी कहते हैं कि वे घरमें नहीं हैं। अब बच्चेपर पड़ रही हैं घुड़-कियाँ, जिससे बह चले हैं उसके आँसू और घर भर गया है उसके चीत्कारसे। बाहर खड़े सज्जन इनके बारेमें जो सोच रहे हैं, वह हम भी समझ सकते हैं और आप भी। कहिए, जरा-सी चूकने अचूक नुस्खेको बेकार कर दिया या नहीं ?

एक बार एक शायर साहब अपने किसी शायर दोस्तसे मिलने गये। मकानके सामने खड़े होकर लगाई आवाज और लगे इन्तजारमें ऊपरको देखने—बेगम साहबाने दीवारके ऊपरसे जो नीचेको झाँका, तो शायर साहबने उन्हें ताक लिया। बेगम साहबा भौंक हुई गईं और कहा—जी वे घरमें नहीं हैं !

शायर साहबने कहा—अच्छा हम फिर आवेंगे, पर चलते-चलते उनके दिलमें आया कि इतनी ऊँची है यह दीवार और उससे इतनी और ऊँची है हमारे दोस्तकी बीबी, तो इसका मतलब यह हुआ कि बेगम साहबा क़रीब ७ फ़ीट लम्बी हैं। शायर साहबको जो आई, फुरैरी तो एक कोयला उठाया और दीवारपर लिख मारा—

तूले शबे फ़ुरकतसे भी दो हाथ बड़ी है।

अर्थात् वह बेचैनी की रातसे भी दो हाथ बड़ी है।

उनके जानेके बाद ये शायर साहब आये, तो देखा कि दीवारपर यह लाइन लिखी है। बीबीसे पूछ ताछ की तो सब माजरा समझे और सोचने लगे कि आज तो यह बड़ा लगड़ा झापड़ पड़ा। आखिर शायर थे वे भी। आई जो फुरैरी, तो उन्होंने उस लाइनके नीचे एक दूसरी लाइन यों लिखी—

वो ज़ुल्फ़ें मसल-सल जो तेरे रुख़ पै पड़ी है।

यानी बेचैनीकी रातसे भी वह ज़ुल्फ़ दो हाथ बड़ी है, जो तेरे चेहरेपर लहरा रही है।

शायर साहब घूमघामकर लौटे, तो देखा कि अब एक की जगह वहाँ दो लाइनें हैं और उन्हें पढ़ा, तो मुसकराकर रह गये। कहनेका मतलब यह कि सब बलायें भूतके सिर; यह नुसखा अचूक है कि वे घरमें नहीं हैं, पर इसमें ज़रा-सी चूकसे बचनेकी ज़रूरत ज़रूर है।

अच्छा आप बहुत बालकी खाल निकालते हैं और बड़े खोजी बनते हैं, तो मेरे एक प्रश्नका उत्तर दीजिए। प्रश्न यह है कि क्या यह संभव है कि आपके घर पर कोई आपसे ही यह कहे कि आप घर पर नहीं हैं और आपको इसका यक़ीन आ जाए?

मैं जानता हूँ आप इसपर नहीं कहेंगे और इस प्रश्नको ही बेसिर-

पैरका बतलाएँगे, पर मैं कहता हूँ कि यह सम्भव है और सौ फ़ी सदी संभव है। फिर यह कोई मैं अपनी तरफ़से गढ़कर थोड़े ही कह रहा हूँ। यह तो भाई साहब, विश्व विख्यात लेखक स्वीट मार्डेनने अपनी एक पुस्तकमें लिखा है।

ओहो, इसमें शब्द-समूहोंके अम्बार खड़े करनेकी क्या बात, मेरी पूरी बात तो आप सुन लें। एक प्रोफेसर साहब बाग़में बैठे विचारोंकी किसी गुत्थीमें उलझ रहे थे। रात गहरी हो चली, तो अपने घर आये, पर रास्तेमें भी उलझे ही रहे और घर जाकर दरवाजा थपथपाया, तो उलझे ही उलझे। नौकरानी नई आई थी। उसने प्रोफेसर साहबको नहीं पहचाना और ऊपरसे कहा—साहब घरमें नहीं हैं। प्रोफेसर साहबने यह सुना और सुनकर फिर बाग़में लौट आये। वहाँ पहुँचकर विचारोंकी गुत्थी सुलझी, तो याद आया कि ओह हम तो अपने ही घर गये थे। अब सोचिए कि इस धरतीने भी कैसे अजीब-अजीब जीव पैदा किये हैं। नौकरानीने कहा कि साहब घरमें नहीं हैं और साहबने भी मान लिया कि हाँ वे घरमें नहीं हैं।"

तो, सब संकटोंसे बचनेका उपाय है घरमें नहीं हैं। घर एक क़िला है, जिसमें कोई यों ही नहीं घुस सकता। आप घरमें हैं और कहा जा रहा है कि घरमें नहीं हैं; फिर किसकी ताक़त है कि आपको घरमें बताए। नन्हें बच्चे यह सब देखते हैं और झूठ बोलना सीखते हैं। झूठकी पहली छाप यहींसे उनके मनपर पड़ती है। इसलिए यह बहाना अच्छा है, फिर भी एक राष्ट्रीय अपराध है। हमारा कर्त्तव्य है कि इसका उपयोग न करें और हमारे मित्रोंका कर्त्तव्य है कि इसके उपयोगका हमें सहारा न लेना पड़े।

झेंपो मत, रस लो !

[१]

श्रीमती विद्यावती कौशल मूढ़ेपर, हम कई आदमी अपनी कुरसियों-पर और बातचीत 'कामायनी' के घेरेमें। जाने क्या हुआ कि मूढ़ा लुढ़क गया और वे धम्मसे धरतीपर आ टिकीं; जैसे कोई बालक सड़कपर पड़े पैसेको अपने दूसरे साथियोंसे पहले दबोचनेको धरतीसे आ लिपटे !

आदमीकी आदत है कि दूसरेको बेवकूफ बनते देखता है, तो उसके फेफड़े और होंठ खिल पड़ते हैं। शायद आदमीकी इसी आदतने नाटकोंमें जोकरोंको जन्म दिया है। जोकर बेवकूफ न हो, तब भी बेवकूफ बनता है और हम हँसते हैं।

तो वे लुढ़कीं कि हम हँसे। आदमीकी आदत है कि जब किसीपर हँसे, तो उसकी आँखें देखना चाहती हैं कि जिसे हँसा गया है, वह झेंपे—खिसियाए !

हम भी हँसे, तो अनचाहते भी चाहा ही कि वे झेंपें, पर हुआ यह कि वे इकली ही हम तीन-चारसे भी ज्यादा जोरसे हँसीं और अपने मूढ़ेपर आते-आते बोलीं—"वाह भाई, लाला लेट गये !"

अब एक अजब बात कि उनकी हँसी हमारे कानोंमें क्या गूँजी, हमारी हँसी एकदम खामोश और हम अपनेमें समाये हुए-से।

बातचीत फिर अपनी जगह ज्यों की त्यों, पर मैं सोच रहा हूँ कि हुआ क्या ? लगता है कुछ हुआ है, पर क्या हुआ है, यह नहीं लगता। मैं सोचता रहा और तब अचानक हाथ आया यह सूत्र—'भूल हो जाए, बेवकूफ बन जाओ, तब भी झेंपो मत—उसमें रस लो !'

[२]

मुझे याद आ गई, अपने ही पिछले जीवनकी एक घटना। नहाकर उठा, तो बनयान मैला और मैला बनयान पहननेका मतलब हुआ मैला मन।

"प्रभा जी, साफ़ बनियान दो!" मैंने पत्नीसे कहा, तो मजबूरी सामने आई—"कल सोचा था, कपड़े धोऊँगी, पर तबियत खराब हो गई। पहन लो अब तो इसे ही; दोपहरको दूसरा बदल लेना।" पर देह उसे अपनेमें लेनेको तैयार न हुई—"ना-ना यह नहीं, साफ़ बनियान दो!"

उन्हें सूझी मजाक—मजाककी तो बात ही है कि रईस-आजमके घरमें कुल दो बनियान और मांग रहे हैं तीसरा। वे अपना खादी-छींटका धुला जम्फर ले आईं-"लीजिए हाजिर है!"

इस मजाकमें मुझे कोई मजाक न लगा—कुरतेके नीचे जैसा बनियान वैसा जम्फर। मैंने उसे गले डाला और विद्यालय चला गया, पर अभी रघुवंशका पाठ आरम्भ ही किया था कि ससुरालका तार—"पहली गाड़ीसे आइए!"

पाठ बन्द और मैं स्टेशनपर। स्टेशनसे गाड़ीमें और गाड़ीसे ससुरालकी तार—श्वसुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्—तो साक्षात् स्वर्गमें। आवभगत हुई, जीजे सालेके सम्बन्धकी बात है, यह बैठते-उठते सुना, पर दशहरेके दिन कि सुबह ठण्डी फुरेरी, तो दोपहरको गुनगुनी-सी धूप। मनमें चाह, हाथोंका सहारा, दिमाग आरामतलब, बस कुरता उतारा और खूँटीपर उसे लटका, जो फिर मुड़ा तो हा-हा, हू-हू और 'वाह क्या कहने' के साथ बड़े साले साहबका यह रिमार्क भी कि—'बस साड़ीकी कसर है पण्डितजी!'

बात कुछ नहीं, वही जम्फरका मामला और मैं झेंपकी रपटमें।

सोचा कुरता पहन लूँ, पर चिड़ियाके उड़नेपर निशाना साधनेसे लाभ, बस मैं अपने आपमें स्वस्थ और हँसतोंके नेता अपने बड़े साले साहबपर यह करारा वार—"जनाब, हज़ार आदमियोंके सामने आपने अपनी बहन-का हाथ मेरे हाथोंमें दिया था। फिर मैंने उनका जम्फर एक दिनके लिए ले लिया, तो आप पुलिसमें रपट क्यों लिखा रहे हैं!"

हँसी करवट मारते पूरबसे पच्छिमकी ओर और साले साहब अब एक ठहाकेके सामने; जैसे तोपका मुँह उन्हें देख रहा हो। बस वे लड़खड़ाये कि यहीं एक और चोट—"क्यों साहब, मैं उनका जम्फर छुऊँ, इसमें आपको कुछ ऐतराज़ है क्या?"

ओह हो, एक और जोरदार ठहाका—दीवारोंको हिलाता-सा और झेंपका रुख मेरी तरफ़से मुँह मोड़े उन्हें अपनेमें घेरे-घेरे!

वही बात कि भूल हो जाए, बेवकूफ़ बन जाओ, तब भी झेंपो मत—उसमें रस लो। झेंप दूसरी तरफ़ मुड़ जायगी और आप उससे साफ़ बच जाएँगे।

[२]

बात 'कामायनी' पर ही चलती रही और मैं सोचता रहा। तभी मुझे याद आ गये पण्डित कमलनाभ। वे दो बार जिला बोर्डके मेम्बर रह चुके थे। तीसरी बार वे फिर खड़े हुए। इस बार मुक़ाबला एक धनी और प्रभावशाली आदमीके साथ था। साथ ही अपने इलाक़ेमें उसने बराबर कई सालसे कोशिशें की थीं। इधर पण्डितजी पुराने पत्ते हो चले थे, उधर वह उगता सूरज था।

पहले ही रेलेमें पण्डित जी हारमें थे और उनका विरोधी हारोंकी उम्मीदमें। मैं चुनावका इन्चार्ज था, इसलिए साढ़े दस बजे ही मैं भोंपा चला।

पण्डितजीसे बचते-बचाते मैंने कहा—जब १०॥ बजे ही ११॥ बज रहा है, तो ११॥ बजे क्या होगा ?"

चिन्ता तो उन्हें भी थी, पर निश्चिन्त हो बोले—"तुम ११॥ बजेकी बात मुझपर छोड़ो और एक काम करो कि इण्टरवल होनेसे पहले जितनी मालाएँ बनवा सको, बनवा लो और छुट्टी होते ही मैं ज्यों ही बाहर आऊँ कि लाउड स्पीकर मुझे पेड़के नीचे मिले। मैं सीधा उसपर आऊँगा और तुम वे सब मालाएँ मुझे पहना देना।"

"क्या मतलब ?" मैंने चौंककर पूछा, तो रोककर बोले—"मतलब कुछ नहीं, जाओ मालाएँ बनवाओ—एक रुपयेमें एक फूल मिले, तब भी मत चूकना !"

यह बजी घण्टी, हुआ इण्टरवल और वे खड़े हैं पण्डितजी पेड़के नीचे माइकपर। गला मालाओंसे लदा और पण्डित जी खिले-हँसते। क्या है ? क्या हुआ ? भीड़ उनके चारों ओर और पण्डित जी कह रहे हैं—"भाइयो ! मैं आज लाजसे गड़ा जा रहा हूँ। आपने मुझे पहले दो बार बोर्डका मेम्बर चुना। पिछले साल मैं लापरवाह रहा, ओहदेके नशेमें डूबा रहा, आपकी खिदमतमें भी लापरवाही मैंने की और बहुतसे भाइयोंके साथ गरम-सरद भी बोला। मुझे उम्मीद थी कि इस बार आप मुझे ठुकरा देंगे, पर आप बड़े हैं और बड़ोंकी बात भी बड़ी होती है। आपने आज मुझे तीसरी बार फिर मेम्बर चुन दिया। आपकी मुहब्बतसे मैं दबा जा रहा हूँ।

सुना था परमेश्वर दयालु होता है, तो छप्पर फाड़कर देता है। आज मैंने खुली आँखों देख लिया कि पंचपरमेश्वरने मेरी भूलोंको भुलाकर फिर तीसरी बार ये मालाएँ मेरे गलेमें डालीं।

पंचो, मैं आपके सामने सिर झुकाता हूँ और क़सम खाता हूँ कि अब

घरका अपना कोई काम नहीं करूँगा और पूरा समय आपकी सेवाके ही कामोंमें लगाऊँगा।"

पण्डितजीने जोरसे कहा—बोल, पंच परमेश्वरकी जय, पंच परमेश्वरकी जय, पंच परमेश्वरकी जय और अपने गलेसे माला उतारकर उन्होंने बड़े-बूढ़ोंको १-१ पहना दी!

घण्टी बजी और बस घण्टी ही बज गई। अपना तो अपना था ही, गैर भी अपना हो गया। जो वोट आया, पण्डितजीके बक्सेमें और जो वोट आया पण्डितजीके बक्सेमें। जीतनेका जग साथी, हारनेका बेटा नहीं, कौन अपना वोट पानीमें फेंकता—पण्डितजी एक हजार वोटसे जीते और विरोधीने कहा—"वसीयत करके मरूँगा लड़कोंके नाम कि कभी चुनाव न लड़ें!"

वही बात कि पण्डितजी झेंपे नहीं और हारको जीतमें बदल ले गये!

[४]

■ क्यों जी, रपट पड़नेपर आदमी झेंपता क्यों है?

■ इसलिए कि दूसरोंकी नजरोंमें अपनी हीनता, कमी, लघुता और हारका भाव उसके मानसको घेर लेता है।

■ और क्यों जी, किसीके रपट पड़नेपर हम हँसते क्यों हैं?

■ इसलिए कि उसकी असफलतामें अपनी सफलता, उसकी कुरूपतामें अपना सौंदर्य और उसकी हारमें अपनी जीतका उल्लास हमारे मानसपर छा जाता है।

■ और बस यहीं वह प्रश्न, जो इस सारे मामलेको उधेड़कर हमारे सामने रख देगा—जब कोई रपट पड़नेपर भी नहीं झेंपता, तो हमारी उठ-उभरती हँसीका फ़व्वारा आप ही आप क्यों दुबक जाता है?

■ इसलिए कि दूसरोंको हमपर हँसनेका मौक़ा तब आता है, जब हम

अपनी आँखोंमें हल्के हो जाएँ ! सुधारक और अग्रगामी संसारमें मूर्खों द्वारा सदा लांछित हुए हैं, पर वे अपनी आँखोंमें हल्के नहीं हुए, इसीलिए यह लांछना उन्हें लांछित नहीं कर पाई और एक दिन अपने प्रति उनका यह सम्मान दूसरोंके मस्तकोंको अपने चरणोंमें झुका सका।

बात अब भी 'कामायनी' पर चल रही थी और मैं सोच रहा था।

पापके चार हथियार !

जार्ज बर्नार्ड शॉका एक पैराग्राफ़ पढ़ा है। वह उनके अपने ही सम्बन्धमें है, "मैं खुली सड़कपर कोड़े खानेसे इसलिए बच जाता हूँ कि लोग मेरी बातोंको दिल्लगी समझकर उड़ा देते हैं। बात यूँ है कि मेरे एक शब्दपर भी वे ग़ौर करें, तो समाजका ढाँचा डगमगा उठे।"

"वे मुझे बर्दाश्त नहीं कर सकते, यदि मुझपर हँसें नहीं। मेरी मानसिक और नैतिक महत्ता लोगोंके लिए असहनीय है। उन्हें उबानेवाली ख़ूबियोंका पुंज लोगोंके गलेके नीचे कैसे उतरे? इसलिए मेरे नागरिक बन्धु या तो कानपर उंगली रख लेते हैं या बेवक़ूफ़ीसे भरी हँसीके अम्बारके नीचे ढक देते हैं मेरी बात।"

शॉके शब्दोंमें अहंकारकी पैनी धार है, यह कहकर हम इन शब्दोंकी उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि इनमें संसारका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सत्य कह दिया गया है।

संसारमें पाप है, जीवनमें दोष, व्यवस्थामें न्याय है, व्यवहारमें अत्याचार और इस तरह समाज पीड़ित और पीड़कके वर्गोंमें बँट गया है। सुधारक आते हैं, जीवनकी इन विडम्बनाओंपर घनघोर चोट करते हैं। विडम्बनाएँ टूटती-बिखरती नजर आती हैं, पर हम देखते हैं कि सुधारक चले जाते हैं और विडम्बनाएँ अपना काम करती रहती हैं।

आखिर इसका रहस्य क्या है कि संसारमें इतने महान् पुरुष, सुधारक, तीर्थंकर, अवतार, सन्त और पैग़म्बर आ चुके, पर यह संसार अभीतक वैसाका वैसा ही चल रहा है। इसे वे क्यों न बदल पाये? दूसरे शब्दोंमें जीवनके पापों और विडम्बनाओंके पास वह कौन-सी शक्ति है, जिससे वह

सुधारकके इन शक्तिशाली आक्रमणोंको झेल जाते हैं और टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर नहीं जाते ?

शॉने इसका उत्तर दिया है कि मुझपर हँस कर और इस रूपमें मेरी उपेक्षा करके ये मुझे सह लेते हैं। यह मुहावरेकी भाषामें सिर झुकाकर लहरको ऊपरसे उतार देना है।

शॉकी बात सच है, पर यह सचाई एकांगी है। सत्य इतना ही नहीं है। पापके पास चार शस्त्र हैं, जिनसे वह सुधारकके सत्यको जीतता या कमसे कम असफल करता है। मैंने जीवनका जो थोड़ा बहुत अध्ययन किया है उसके अनुसार पापके यह चार शस्त्र इस प्रकार हैं :—

उपेक्षा, निन्दा, हत्या और श्रद्धा।

सुधारक पापोंके विरुद्ध विद्रोहका झण्डा बुलंद करता है तो पाप और उसका प्रतिनिधि पापी समाज उसकी उपेक्षा करता है, उसकी ओर ध्यान नहीं देता और कभी-कभी कुछ सुन भी लेता है, तो सुनकर हँस देता है; जैसे वह किसी पागलकी बड़ हो, प्रलाप हो। इन क्षणोंमें पापका नारा होता है—"अरे, छोड़ो इसे और अपना काम करो।"

सुधारक सत्य उपेक्षाकी इस रगड़से कुछ तेज होता जाता है, उसके स्वर अब पहलेसे कुछ पैने हो जाते हैं और कुछ ऊँचे भी।

अब समाजका पाप विवश हो जाता है कि वह सुधारककी बात सुने। वह सुनता है और उसपर निन्दाकी बौछारें फेंकने लगता है। सुधारक सत्य [illegible] यह गालियोंकी दीवार खड़ी करनेका प्रयत्न है। [illegible] है कि सुधारकके जो जितना समीप है, वह उसका उतना ही बड़ा निन्दक होता है। यही कारण है कि सुधारकोंको प्रायः क्षेत्र बदलने पड़े हैं। मुहम्मदको मक्कासे मदीना इसीलिए तो जाना पड़ा था !

इन क्षणोंमें पापका नारा होता है—

"अजी बेवक़ूफ है; लोगोंको बेवकूफ बनाना चाहता है।"

सुधारकका सत्य निन्दाकी इस रगड़से और भी प्रखर हो जाता है और अब उसकी धार चोट ही नहीं करती, काटती भी है।

पापके लिए यह चोट अब धीरे-धीरे असह्य हो उठती है और वह बौखला उठता है। अब वह अपने सबसे तेज शस्त्रको हाथमें लेता है। यह शस्त्र है हत्या।

सुकरातके लिए यह जहरका प्याला है, तो ईसाके लिए सूली, दयानन्दके लिए यह पिसा काँच है, तो गांधीके लिए गोली।

इन क्षणोंमें पापका नारा होता है—"ओह, मैं तुम्हें खिलौना समझता रहा और तुम साँप निकले, पर मैं साँपको जीता नहीं छोड़ूँगा—पीस डालूँगा।"

सुधारकका सत्य हत्याके इस घर्षणसे प्रचण्ड हो उठता है। शहादत उसे ऐसी धार देती है कि सुधारकके जीवनमें उसे जो शक्ति प्राप्त न थी, अब हो जाती है। सूर्यका ताप और प्रकाश उसमें समा जाता है, बिजलियोंकी कड़क और तूफानोंका वेग भी।

पाप काँपता है और उसे लगता है कि इस वेगमें वह पिस जायगा—बिखर जायगा। तब पाप अपना ब्रह्मास्त्र तोलता है और तोलकर सत्यपर फेंकता है। यह ब्रह्मास्त्र है श्रद्धा।

इन क्षणोंमें पापका नारा होता है—

"सत्यकी जय, सुधारककी जय!";

अब वह सुधारककी करने लगता है चरण-वन्दना और उसके सत्यकी महिमाका गान और बखान।

सुधारक होता है करुणाशील और उसका सत्य सरल विश्वासी।

वह पहले चौंकता है, फिर, कोमल पड़ जाता है और तब उसका वेग पड़ जाता है शान्त और वातावरणमें छा जाती है सुकुमारता।

पाप अभीतक सुधारक और सत्यके जो स्तोत्र पढ़ता जा रहा था, उनका करता है यूँ उपसंहार—"सुधारक महान् है, वह लोकोत्तर है, मानव नहीं; वह तो भगवान् है, तीर्थंकर है, अवतार है, पैगम्बर है, सन्त है। उसकी वाणीमें जो सत्य है, वह स्वर्गका अमृत है। वह हमारा वन्दनीय है, स्मरणीय है, पर हम पृथ्वीके साधारण मनुष्योंके लिए वैसा बनना असम्भव है, उस सत्यको जीवनमें उतारना हमारा आदर्श है, पर आदर्शको कब कहाँ कौन पा सकता है?"

और बस इसके बाद उसका नारा हो जाता है—"महाप्रभु सुधारक वन्दनीय है; उनका सत्य महान् है; वह लोकोत्तर है।"

यह नारा ऊँचा उठता रहता है, अधिकसे अधिक दूरतक उसकी गूँज फैलती रहती है, अधिकसे अधिक लोग उसमें शामिल होते रहते हैं, पर अब सबका ध्यान सुधारकमें नहीं, उसकी लोकोत्तरतामें समाया रहता है; सुधारकके सत्यमें नहीं, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अर्थों और फलितार्थोंके करनेमें जुटा रहता है।

अब सुधारकके बनने लगते हैं, स्मारक और मन्दिर और उसके सत्यके ग्रन्थ और भाष्य।

बस यहीं सुधारक और उसके सत्यकी पराजय पूरी तरह हो जाती है।

पापका यह ब्रह्मास्त्र अतीतमें अजेय रहा है और वर्तमानमें भी अजेय है। कौन कह सकता है कि भविष्यमें कभी [illegible] खण्डित कर सकेगा या नहीं?

जब मैं पंचायतमें पहली बार सफल हुआ !

पास-पड़ौसकी एक दूकानका उद्घाटन था। दूकान क्या, एक पूरी कम्पनी ही है। सब लोग एकत्रित हुए। मैं भी पहुँचा, तो देखा कि ऊँची कुरसी मेरे लिए खाली है और उद्घाटन मुझे करना है। मैंने सब मनुष्यों-पर एक नज़र डाली, तो सब युवा थे। तभी आ गये एक रिटायर्ड इंजी-नियर महोदय !

मित्रोंको मैंने धीरेसे कहा—बाबूजीसे कराइये उद्घाटन, तो सब एक साथ मेरे ही लिए चिल्ला-से पड़े—नहीं, नहीं, आप !

मैं कुरसीके पास गया और कहा—हमारी सभ्यताका मूलमन्त्र है मर्यादा। इस मर्यादामें युवकोंका अधिकार है सेवा और वृद्धोंका आशीर्वाद। प्रसन्नता है कि हमारे बीचमें एक वृद्धजन हैं। सबकी ओरसे मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इस शुभ कार्यका उद्घाटन करें और आशीर्वाद दें। अपने युवा साथियोंसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे उस आशीर्वादको नम्रताके साथ सिर-आँखों ग्रहण करें।

मैंने देखा कि सारा वातावरण एक सात्त्विक आह्लादसे भर गया। बाबूजीने उद्घाटन किया, आशीर्वाद दिया और कार्य समाप्त हुआ, तो चलते समय मुझे अपनेसे लिपटा लिया—मेरे लिए यह बड़ी चीज थी।

श्रीराम शर्मा 'प्रेम' साथ थे। रास्तेमें बोले—"आज मैंने आपसे कुछ सीखा।" मैंने पूछा—क्या, तो बोले—"यह कि मनुष्य पद-प्रतिष्ठा और दूसरी ऐसी ही चीजोंके पीछे दौड़कर सफलताके स्वप्न देखता है, पर वास्तवमें सफलता इनसे मुँह मोड़कर चलनेमें है। अक्सर यह होता

है कि हम पानेमें खोते हैं और खोनेमें पाते हैं, पर कुछ ऐसा भ्रमजाल चारों ओर छाया है कि हम इस सचाईको पकड़ नहीं पाते । आज आप उस कुरसीपर स्वयं बैठकर उद्घाटन करते और उपस्थित मनुष्योंके हृदयोंमें ५० डिग्रीका मान पाते, तो अब आप उस पर किसी दूसरेको बैठाकर सच कहता हूँ, १०० प्रतिशत मान पा गये।"

मैंने कहा—"तुम्हारा दृष्टिकोण ठीक है, मैं बरसों पहले ही यह बात समझकर गाँठ बाँध चुका हूँ, पर आज तो मैंने किसी दूसरे ही कारण या दृष्टिकोणसे ऐसा किया है।"

उत्सुक हो श्रीराम भाईने पूछा—"वह भी समझाइये।" मैंने कहा—"समाजमें वृद्ध भी हैं और युवक भी। दोनोंकी मनोवृत्तियोंमें अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन युगमें जो आश्रम-व्यवस्था थी, वह इसका सर्वोत्तम इलाज था। युवक पुत्रने जहाँ घर सम्भाला कि वृद्ध जी वाणप्रस्थी हुए और जहाँ पुत्र पूर्ण प्रबन्धक हुआ कि वे संन्यास लेकर वनकी राह लगे। आज दोनों साथ हैं और इसीलिए हर एक घरमें घोर संघर्ष है और इस संघर्षका उपाय है—सम्मिलित परिवारकी समाप्ति। मैं सम्मिलित परिवारके घोर विरुद्ध हूँ, पर सम्मिलित-परिवार संस्थाको समाप्त करके भी यह प्रश्न पूरा नहीं सुलझता, क्योंकि फिर भी घरमें न सही समाजमें तो दोनों रहेंगे ही—संघर्ष घरोंसे निकलकर समाजके आंगनमें खुल-खेलेगा। खेल ही रहा है आज।"

"फिर उपाय क्या है?" श्रीराम भाईने पूछा।

मैंने कहा—"उपाय है दोनोंकी मनोवृत्तियोंका अध्ययन कर दोनोंके मध्य मर्यादाकी रेखा खींचना। वृद्धमें अनुभव है, युवकमें साहस। पहला सोचता है—इसे अभी क्या पता संसारका और दूसरा सोचता है—मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ। दोनों ही अपनी ओर देखते हैं, दूसरेकी ओर नहीं।

अपने अनुभवोंकी छायामें वृद्ध चाहता है कि युवक उसकी आज्ञाका पालन करे। वृद्धत्वकी सबसे बड़ी आकांक्षा है झुका हुआ सिर देखना। उसकी आँखें नत शिर और विनत स्कन्ध देखना चाहती हैं और उसके कान सुनना चाहते हैं केवल एक वाक्य—जैसी आपकी आज्ञा!

आँखें खोलकर चलनेके कारण अपने सार्वजनिक जीवनके आरंभमें ही मैंने समझ लिया था कि नत शिर और विनत स्कन्ध देखने और 'जैसी आपकी आज्ञा' सुननेके बाद ९५ प्रतिशत वृद्धोंमें शेषके प्रति कोई जिद नहीं रहती और इतना उन्हें न मिले, तो फिर वे किसी भी निर्णयके लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि उस समय प्रश्न तर्क और औचित्यके राजपथसे उतर, जिद और अहंकारकी झाड़ियोंमें उलझ जाता है।"

असलमें यह तत्त्व १९३१में हाथ लगा। कस्बेकी एक कन्या उस समय गर्भवती थी, जब उसका विवाह हुआ; इसलिए द्विरागमन होनेसे पहले ही उसके पुत्री हुई। बात खुल गई और लड़केवालोंने द्विरागमन करनेसे इंकार कर दिया। एक दिन मैंने उस कन्याको देखा। अत्यन्त भोली, सात्त्विक और संजीदा। मैं उससे मिला। वह भूलपर दुखी थी और इस बातके लिए तैयार न थी कि उसका कहीं और दूसरा विवाह किया जाये। मुझपर इस बातका प्रभाव पड़ा और मैंने प्रयत्न करनेका निश्चय कर लिया।

तीन महीनोंके प्रयत्नोंसे लड़केवाले उस कन्याको लेनेके लिए तैयार हो गये, पर शर्त यह कि मेरे नगरके लोग—ब्राह्मण पंचायत—सार्वजनिक रूपमें, उन्हें यह आदेश दें कि वे इसे ग्रहण करें। शर्त कठिन थी, पर उचित। मैंने उद्योग आरंभ किया, ५ वृद्ध-पंचोंको मनाना कठिन था और शेष लोगोंसे पंचायतमें हाथ उठवाना सरल, इसलिए मैंने अलग-अलग पंचोंसे मिलना आरम्भ किया।

मैंने यह भूमिका तैयार की कि बातचीत इससे ही आरंभ करूँगा—

"लड़की बड़ी गऊ है, जरा-सी भूलमें मारी गई। आप समाजकी नस-नसको पहचानते हैं, सारी उमर बुरा जीवन बिताएगी——ये इतनी वेश्याएँ यों ही तो बढ़ी हैं। आप आज्ञा दें, तो इसे इसके घर पहुँचा दें, पर यह आपकी पूरी शक्ति लगाये बिना संभव नहीं। बात यह है कि आप तो युगको पहचानते हैं, पर ज्यादातर लोग अभी अन्धेरेमें ही पड़े हैं। हाँ, आपका इतना प्रभाव है कि आप पंचायतमें बोल पड़ें, तो फिर कोई साँस नहीं ले सकता। यह गऊ अपने खूँटेसे बन्ध जायगी। एक बात है कि यह सारे समाजका मामला है। हम लोग तो अभी बालक हैं, ठीक समझते नहीं। आपका अनुभव विशाल है। आप आज्ञा दें, तो बात चलाई जाय, नहीं तो यहीं खतम !"

बातचीत चलाई गई और पंचायतमें प्रस्ताव इतने जोरोंसे पास हुआ कि सबके लिए आश्चर्य-जनक ! तबसे मैंने सीखा कि वृद्धोंका यदि हम मान रक्खें, तो वे हमें कर्मकी स्वतन्त्रता दे देते हैं। वृद्धोंके अहंकारपर कभी आक्रमण मत करो, यह समाज-सुधारका पहला मन्त्र मैंने याद कर लिया और फिर तो वृद्धोंका मान मेरा स्वभाव ही हो गया। अब तो मुझे बड़ोंके सामने, उनका आदेश पाकर भी ऊपर बैठते संकोच होता है। मेरे लिए अब यह कोई टैक्ट नहीं, संस्कार हो गया है और मैं तो चाहता हूँ कि हरेक युवकमें यह संस्कार हो।

मैं पशुओं में हूँ,
पशु जैसा ही हूँ,
पर पशु नहीं हूँ!

जिज्ञासा

स्वतन्त्र भारतके केन्द्रीय शासन द्वारा आयोजित साहित्य-संस्कृति-संगमका उद्‌घाटन दिल्लीके लाल क़िलेमें महामहिम राष्ट्रपति-द्वारा हो चुका, तो प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू संस्कृतिपर बोलनेको माइक पर आये।

उनके भाषणका पहला वाक्य लगभग यह था—"आप जानते हैं कि मुझे तो संस्कृति-कलचरके मामलोंमें बहुत दिलचस्पी है, पर मुसीबत तो यह है कि इस मसलेपर मैं ज्यों-ज्यों ग़ौर करता हूँ, आलिमों-विद्वानोंसे मिलता हूँ या उनकी किताबें पढ़ता हूँ, उलझता जाता हूँ।"

नेहरूका यह वाक्य सुनकर मैं अपनेमें ऐसा उलझ गया कि मुझे नहीं मालूम फिर आगे उन्होंने क्या कहा। सहसा मुझे याद आ गई अपने ही जीवनकी एक घटना। मेरे नगरका विशाल तालाब है देवीकुण्ड। उसमें तैरते-डुबकियाँ लेते मैं पला-पनपा, पर उस दिन तैरते-तैरते कमल-वनमें जा घुसा, तो लगा कि अब लौटना असंभव है।

हाथों और पैरोंमें कमलकी नालें इस तरह लिपटीं कि एकसे छूटूँ, तो दोमें उलझूँ और दोसे छूटूँ, तो चारमें और इस छूटने-उलझनेकी कशमकशमें हालत यह हो गई कि मकड़ीके मायाजालमें फंसी मक्खी। मैं अपनी

उपमा दे सकूँ। अपने प्रिय नेहरूकी उलझन मुझपर कुछ इस तरह छा गई कि लगा मैं इस समय भी उसी कमल-वनमें उलझा हुआ हूँ।

नेहरूके बाद आसफअली आये और उन्होंने विनयको ही संस्कृति कहा, तो काका कालेलकरने संस्कृतिके नामपर शुद्धि, समृद्धि, सामर्थ्य और समाधानकी चर्चा की और इस तरह दो दिनोंतक वर्चस्वी विद्वानोंके भाषण सुनकर सचमुच स्वयं मेरी भी हालत नेहरू जैसी ही हो गई कि कहूँ—पर मुसीबत तो यह है कि मैं इस मसलेपर ज्यों-ज्यों गौर करता हूँ, आलिमों-विद्वानोंसे मिलता हूँ या उनकी बातें सुनता हूँ, उलझता जाता हूँ।

सोचा—आखिर यह संस्कृति है क्या कि जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, पर मानवकी अनिवार्यता होकर भी वह ऐसा गूढ़ तत्त्व कि उसकी आँख-पूँछ तो हरेक देखता है, पर उसकी पूर्णताके दर्शन—उसका स्पष्ट ज्ञान—किसीको भी सुलभ नहीं?

अजीब उलझन है और उलझनका तक़ाज़ा है कि उसे सुलझाया जाय, पर यह सुलझे कैसे? उलझनको सुलझानेका मेरा अपना तरीक़ा यह है कि जब सुलझाते-सुलझाते बुद्धि उलझने लगे, तो मैं उसे अपने अन्तर्यामीको सौंपकर सो जाता हूँ। बस संस्कृतिकी उलझन भी मैंने अपने अन्तर्यामीको सौंपी और निश्चिन्त हो गया।

कोई १४ महीने बाद देवप्रयागके पर्वतोंकी गोदमें अलखनन्दा और गंगाके संगमपर बैठे-बैठे मुझे अन्तर्यामीके बोल सुनाई पड़े। नम्र हो, मैंने उन्हें भाषामें बाँध लिया।

स्वरूप

वे बोल कुछ इस तरह थे—मनुष्य जाने कब जंगलोंमें जन्मा और पनपा-पला। जंगलकी उस जन्मभूमिमें मनुष्यके साथी थे जंगली जान-

नर—शेर, चीते, हाथी, भालू, भेड़िये और अजगर। वह उन्हींकी तरह शिकार करता-खाता, उन्हींकी तरह लड़ता-मरता। उन्हींकी तरह शरीर-की दूसरी माँगें पूरी करता, उन्हींकी तरह रहता-सहता और जैसे वे थे, वैसा वह था—उन्हींमें एक!

यों ही युग बीत गये।

वह जंगलमें जंगली जानवरोंकी तरह, जंगली जानवरोंके साथ, जीता-मरता रहा। पंजे ही उसकी शक्ति, इच्छा ही मार्ग-दृष्टि और यों वह निर्द्वन्द, अल्हड़ और मस्त—दो पैरोंका एक चौपाया!

जाने कब, कैसे, और क्यों उसने दूसरे जानवरोंकी ओर देखा और फिर अपनी ओर। जाने कबतक, कितने युगोंतक वह यों ही कभी उन्हें और कभी अपनेको देखता रहा।

देखते-देखते वह कुछ सोचने लगा। जाने कितने युगोंतक वह क्या-क्या सोचता रहा और तब उसके अन्तरमें एक पुकार उठी—मैं पशुओंमें हूँ, पशुओं जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ।

मनुष्यके हृदयमें सहज भावसे उठी यह पुकार, बहुत-सी बातोंमें पशुके समान होकर भी पशु न होनेकी, उससे भिन्न होनेकी, उससे श्रेष्ठ होनेकी, यह आत्म-चेतना ही मनुष्यकी संस्कृति है।

मनुष्यके विकासकी पृष्ठभूमि यही आत्म-चेतना, यही संस्कृति है। यह संस्कृति ही उसकी मूल प्रेरणा है। इसीने उसकी जीवन-दृष्टिको विशिष्टता दी है और इसीने उसके जीवन-व्यवहारको उच्चता। इसीसे मनुष्य उठा और अपने निर्माणके पथपर चला; क्योंकि अब उसे हर बातमें अपनी श्रेष्ठता अनुभव करनी थी और प्रदर्शित भी।

संस्कृति मनुष्यके जीवनका शाश्वत सत्य है—यही मनुष्य और पशुके बीचकी विभाजक रेखा है।

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ !

अपने अन्तर्यामीके ये बोल सुनकर मैंने सोचा---संस्कृतिमें उलझन कहाँ है ? कहीं भी तो नहीं !

साक्षात्कार

संस्कृतिका स्वरूप अब मेरे सामने था, पर उस दिन मुझे अचानक संस्कृतिका साक्षात्कार ही हो गया; जैसे योगीको ब्रह्म-ज्ञानके बाद ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाये।

यह मेरे जीवनका एक चमत्कार था !

और यह भी एक चमत्कार ही था कि जीवनका यह चमत्कार एक रातको सिनेमा देखते समय हुआ !!

तस्वीर थी प्यारकी जीत। कहानी यों थी कि स्त्री-पुरुषोंके दो जोड़े थे---एक सज्जन और एक दुर्जन। सज्जन जोड़ा जीवनमें एक होना चाहता था, पर दुर्जन जोड़ा इसमें बाधक था। सज्जन जोड़ा यदि एक हो जाय, तो उसे एक बड़ी सम्पत्ति मिलनेवाली थी, पर दुर्जन जोड़ा इस सम्पत्तिको स्वयं हड़पना चाहता था।

कहानीका प्रवाह सज्जनता और दुर्जनताके सघन सनसनीपूर्ण घात-प्रतिघातसे भरपूर था। सिनेमा हाल अन्धकारसे भरा था। मैं जरा बादमें आया था और मुझे पता न था कि मेरे आस-पास कौन बैठे हैं। कहानी बल खाती-इठलाती चल रही थी।

सज्जन जोड़ा मिलनेका प्रयत्न करता, सफलता निकट दिखाई देती कि वे मिले, वे मिले, वे एक हुए कि दुर्जन जोड़ा अपना दाव मारता और ये दोनों बहुत दूर जा पड़ते। चोट सहकर वे दुर्जन जोड़ेपर चोट करते और दुर्जन जोड़ा चारों खाने चित दिखाई देता।

मेरा ध्यान इस बातपर गया कि जब दुर्जनताकी विजय होने लगती

है, तो मेरे आस-पास बैठे लोगोंका साँस रुकने लगता है और सज्जनता जीतती है, तो उनकी तालियोंकी गूँजसे सारा हाल गड़गड़ा उठता है।

एक ऐसी ही गड़गड़ाहटमें मध्यान्तर हुआ और ऊपरसे प्रकाशके आते-आते सुना—"ऐसे बदमाशोंको तो गोली मार देनी चाहिए।" मुड़कर देखा, तो यह श्री चावलाकी आवाज़ थी। यह पुरुष अपना कारखाना स्वयं फूँककर बीमा कम्पनीसे २० हज़ार रुपये उड़ा चुका था!

सज्जनताकी जीत पर मेरे पीछे भी बहुत तालियाँ पिटी थीं। उधर देखा, तो मैं धक् रह गया। ये एक कपड़ेके व्यापारी थे और अपनी विधवा बुआकी हत्याकर उसका धन हड़प चुके थे!

समयकी बात, मेरी दृष्टि जिनपर भी उस समय टिकी, वे अधिकतर इसी श्रेणीके पुरुष थे।

अचानक मेरे मनमें प्रश्न उठा—ये लोग दुर्जन जोड़ेकी श्रेणीमें हैं, फिर यह क्या बात है कि ये तालियाँ बजा रहे हैं सज्जन जोड़ेकी जीतपर? साफ़ शब्दोंमें, इनकी सहानुभूति तो दुर्जन जोड़ेके साथ होनी चाहिए!

मैं अपने प्रश्नसे बेचैन था और कहानी फिर उसी घात-प्रतिघातमें चल रही थी। अन्तमें दुर्जनता बुरी तरह हारी और सज्जनता पूरी तरह जीती, तो हॉल तालियोंसे हिल-हिल उठा। मैं हॉलसे बाहर निकल तारोंकी छाँहमें आया और पार्कके लानपर जा बैठा—मेरा प्रश्न भीतर ही भीतर मुझे उधेड़ रहा था।

सहसा मेरे अन्तर्यामीके बोल मुझे फिर सुनाई पड़े—मनुष्य युग-युगोंतक जंगलमें रहा है, पशुओंमें रहा है, पशुओंकी तरह रहा है। उस कालकी आदतें, प्रवृत्तियाँ आज भी उसके साथ हैं। ये प्रवृत्तियाँ उसे पशुताकी ओर बहा ले जाती हैं, वह पशुताके कार्य करनेपर उतारू हो जाता है, पशु-ताके कार्य करता है, पर उसके भीतर अपनेको पशुसे भिन्न बतलानेवाली,

अपनेको पशुसे श्रेष्ठ समझनेवाली, एक आत्म-चेतना है और वह उसे सदा पशुतासे रोकती है।

मनुष्य बुद्धिके, परिस्थितियोंके, प्रलोभनके, माया-जालमें फँस भले ही आत्म-चेतनाकी उस रोकको न माने, लाख पशुता करे, वह चेतना अपना काम करती रहती है। तभी तो बुरे होकर भी प्रशंसा हम भलाईकी ही करते हैं, दुष्ट होकर भी विजय हम सज्जनताकी ही चाहते हैं और इस प्रकार हमारे ऊपर पशुताका लाख अन्धेरा छा जाय, हमारे अन्तरमें देवत्वका प्रकाश ही रहता है। यही संस्कृतिका दीपक है। इसी दीपकके प्रकाशकी वाणी है— **नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**—मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

मुझे लगा कि मेरे बाहर, भीतर, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, चारों ओर दीपक ही दीपक जल रहे हैं और तब पार्ककी उस हरी दूबपर खुले आकाशके नीचे मैंने अपनेसे कहा—यही संस्कृतिका साक्षात्कार है।

वंशवृक्ष

हाँ, तो जंगलमें, जंगली जानवरोंके साथ, जंगली जानवरोंकी तरह रहते मनुष्यके अन्तरमें चेतना जागी कि मैं पशुओंमें हूँ, पशुओं जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ, यानी उनसे भिन्न हूँ, उनसे श्रेष्ठ हूँ ।

यह हुआ संस्कृतिका जन्म ।

इस चेतनाके जन्मसे मनुष्य पर जो पहला प्रभाव पड़ा, वह था यह कि अब उसे पशु और मनुष्यमें भिन्नता अनुभव होने लगी। भिन्नताके इस बोधने उसकी मनोवृत्तिमें जो गहरा परिवर्तन किया, वह यह था कि मनुष्य उसे अब पहलेसे अधिक अपना दीखने लगा।

इसका यह फल अनिवार्य ही था कि मनुष्यको अब मनुष्यके साथ

पशुसे भिन्न व्यवहार करनेकी, अच्छा व्यवहार करनेकी इच्छा-प्रवृत्ति हो। धीरे-धीरे इस इच्छाने जिस व्यवहार-पद्धतिको जन्म दिया, आगे चलकर उसीका नाम पड़ा सभ्यता। सभायां साधुः सभ्यः—सभामें, चार आदमियोंमें बैठकर जो आदमी भला लगे, जिसका व्यवहार अच्छा हो, वही सभ्य कहा-माना जाने लगा।

सभ्यता; मनुष्य और मनुष्यके बीच व्यवहारकी एक पद्धति, जिसकी पृष्ठभूमि है सहयोगकी भावना। इस भावनाने छोटे-छोटे संघोंके रूपमें समाजकी, सामूहिक जीवनकी रचना की, जिसकी पृष्ठभूमि है पशुओंके भयसे सुरक्षाका आश्वासन।

तो अब मनुष्यके लिए अपना ही सुख-दुःख अपना सुख-दुःख न रहा; अपनोंका सुख-दुःख भी अपना सुख-दुःख हो गया—भले ही ये अपने १०-२० हों या ४०-५०।

ये अपने मिलकर बैठते, बातमें बात निकलती। इन बातोंमें जिन अजेय जिज्ञासाओंने जन्म लिया, उनमें मुख्य थीं प्रकृतिकी चमत्कार भरी व्यवस्था और मृत्यु।

सूर्य कैसे समयपर निकलता है? तारे क्या हैं? बादलोंमें पानी कहाँसे आता है? फूल कैसे खिलते हैं? चाँद कैसे घटता-बढ़ता है और पूर्ण होता है? ऋतुएँ कैसे बदलती हैं?

ये प्रश्न आये, तो यह प्रश्न आयगा ही कि वह कौन है, जो यह सब करता है और दिखाई नहीं देता।

साथ ही यह भी कि यह मृत्यु क्या है? पहले मनुष्य अपनेमें जीता था और कहीं भी मर जाता था, पर अब वह अपनोंमें जीने लगा, तो अपनोंमें मरने लगा। अपनेके मरनेका दुःख होता ही है, उसका अभाव खटकेगा

ही, तो प्रश्न पैना हो आया कि वह क्या था, जिसके न रहनेसे आदमी मर गया ? और मरकर वह कहाँ गया ?

इन जिज्ञासाओंने मनुष्यमें एक अप्रत्यक्षके प्रति आस्था उत्पन्न की और इस आस्थाने मनुष्यमें जिन दो नई भावनाओंको जन्म दिया, उनमें एकका नाम पड़ा धर्म और दूसरीका दर्शन।

धर्म बाहर खोजता रहा, दर्शन भीतर। धर्मकी खोज मनुष्यको अपना जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है ईश्वर और दर्शनकी खोज मनुष्यको जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है आत्मा। इतिहासपुरुष शंकराचार्यने दोनोंकी एकता प्रतिपादित की और आत्माको ही परमात्मा बताया।

बस संस्कृतिका यही वंशवृक्ष है–संस्कृति माताकी पुत्री सभ्यता, सभ्यताका पुत्र समाज, समाजके जोड़ले पुत्र धर्म और दर्शन, धर्मका पुत्र ईश्वर और दर्शनकी पुत्री आत्मा।

मूलमंत्र

मूलमन्त्र (मोटो) सत्यका, तत्त्वका रहस्य समझनेमें सहायक होते हैं, तो सोचा संस्कृति और उसके वंशधरोंका मूलमन्त्र यदि खोजा जा सके, तो यह सुविधाजनक होगा।

खोजने पन्ने उलटते, चिन्तन करते जहाँ संतोष पाया, वह यहाँ उपस्थित है। मैं आग्रही नहीं हूँ कि अपने संतोषको परिपूर्णता कहूँ, मानूँ या माननेको बाध्य करूँ।

क्या संस्कृतिकी भाव-दिशा अतीतमें गाई गई इस ऋचामें समाई नहीं है ?

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।

मेरे अन्तर्यामी, मुझे असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमरताकी ओर ले चल।

असतो मा सद्गमयमें संस्कृतिकी, तमसो मा ज्योतिर्गमयमें सभ्यता-समाजकी और मृत्योर्माऽमृतं गमयमें धर्म-दर्शनकी दिशाका पूर्ण संकेत है।

असत् है पशुता---जंगलीपन---,तो सत् है मनुष्यता---मनुष्यकी संस्कारिता।

तमस्---अन्धकार--है पशु की असहायता, हिंस्रता और ज्योति है मनुष्यकी अहिंसकता, सामाजिकता, सहकारिता।

मृत्यु है मरणके साथ जीवनकी समाप्ति और अमरता है, जीवन-का शाश्वत प्रवाह, आत्माकी अमरता, चेतनता और व्यापक चैतन्य सत्ताके साथ एकीकरण।

कसौटी

संस्कृतिकी कसौटी क्या है? हम कैसे निर्णय करें कि हमारा अमुक काम संस्कृतिके अनुकूल है या नहीं? संस्कृति शब्दकी लोक-प्रियताने उसे आकर्षक बना दिया है और हर प्रवक्ता एवं लेखक, हर सभा और संगठन अपनेको संस्कृतिका रक्षक कहना आवश्यक मानने लगा है। इसी उलझनके अन्धकारमें प्रकाशकी माँग है---संस्कृतिकी कसौटी क्या है?

संस्कृतिकी कसौटी है पशुता। उचकिए नहीं, संस्कृतिकी कसौटी है पशुता, पर जरा बुद्धिके साथ। जिस परिस्थितिमें पशु जो कुछ करता है, क्या हम भी वही करते हैं या उससे भिन्न? बस पशुसे भिन्नता ही संस्कृतिकी कसौटी है।

पशुका स्वभाव है कि जहाँ, जब, जो, जी में आया कर लिया, पर मनुष्यका स्वभाव है जहाँ, जब, जो, जीमें आये, उसे सोचे कि यहाँ, अब,

यह करना उचित है या नहीं और उचित हो, तो करे, नहीं तो रुक जाय। संक्षेपमें बुद्धिपूर्वक संयम ही संस्कृतिकी कसौटी है।

उलझन

इस कसौटीपर अपने आचरणको कसकर उसके अनुसार चलना कठिन नहीं है, पर वह दलदल कहाँ है, जहाँ यह चलती गाड़ी अटककर फँस जाती है; फँस क्या बस धँस जाती है कि निकाले न निकले ?

दोमें बातें होती हैं, व्यवहार चलता है। जबतक दोनों एक मत हैं, एक दूसरेके अनुकूल हैं, कोई बात नहीं, पर जब दोनोंमें मतभेद होता है, तो गरमी आती है, असहिष्णुता उमड़ती है, क्रोध भड़कता है। जी चाहता है कि सामनेवाला हमारी बात माननेको विवश हो और न हो, तो हम उसे ताक़तसे पीस दें, मिटा दें, अपनी बात उससे मनवा लें।

यहाँ पशु और मनुष्य समान हैं। पशुमें भी यह इच्छा सहज है और मनुष्यमें भी, पर मनुष्य बुद्धिमान है, इसलिए पशुओंमें जहाँ इस इच्छाके फलस्वरूप झड़प और हत्या ही होती है; मनुष्यने इसे समाजकी एक सामूहिक प्रवृत्ति बना, युद्धका रूप दे दिया है।

तो युद्ध मनुष्यकी पशुताका, संस्कृति-हीनताका सर्वोत्तम प्रदर्शन है और उलझन यह है कि संस्कृतिकी पताका थामे खड़ा मनुष्य इस युद्धसे कैसे बचे ? सच तो यह है कि हमारी संस्कृतिके इतिहासका सबसे बड़ा प्रश्न है ही यह; इतना गहन, इतना जटिल प्रश्न कि हमारे राष्ट्र-पुरुषोंको इसका उत्तर देनेमें कई हज़ार वर्ष लग गये !!!

रामने कहा

राम और रावण प्रतिकूल परिस्थितियोंमें आ खड़े हुए। वही युद्धकी परिस्थितियाँ, परिणाममें युद्ध और युद्धमें एक पक्षका सर्वनाश और दूसरे

पक्षकी विजय।

रामके जीवनने क्या कहा ? यही कि युद्ध पशुता है, संस्कृतिके विरुद्ध है; यदि हम न्याय-अन्याय और सत्य एवं असत्यका विचार किये बिना लड़ें, पर यदि हमारी न्यायपूर्ण एवं सत्यपूर्ण बातको भी दूसरा न माने तो हम शक्ति और साधनोंकी चिन्ता किये बिना लड़ें, यह पशुता नहीं है, संस्कृतिके विरुद्ध नहीं है। इस दशामें यह निश्चित है कि जीत हमारी ही होगी; क्योंकि सत्यमेव जयते—जीत तो सत्यकी ही होती है।

क्या बात हुई यह ? यही कि यदि विरोधी हमारी बात न माने, तो हम उससे लड़ें, उसे मिटा दें, यह अबतकका नियम था। रामने इसमें जोड़ा— पर हमारी बात न्यायसे पूर्ण हो, सत्यसे पूर्ण हो।

रामका निर्णय अन्धकारमें प्रकाशकी पहली किरण थी—हम अन्धा-धुन्ध न लड़ें, सत्यके, न्यायके पक्षमें होकर ही लड़ें, असत्यके—अन्यायके विरुद्ध अवश्य लड़ें और इस विश्वासके साथ कि सत्य कभी नहीं हारता, हमारी जीत निश्चित है।

कृष्णने कहा

रामका निर्णय महान् था, पर उसमें एक उलझन थी कि यह निर्णय कौन करे कि मतभेदमें सत्य क्या है, न्याय क्या है ? यह हो गया तर्कका विषय और तर्क है बुद्धिका मायाजाल कि सुलझाये न सुलझे। फिर हम न्यायके पक्षसे लड़ें या अन्यायके पक्षसे, युद्धकी असांस्कृतिक—पंजेसे फैसला करनेवाली पशु-प्रवृत्ति—तो हममें रही ही !

तो कृष्णके जीवनकी सबसे बड़ी और आकुल जिज्ञासा यही थी कि युद्ध कैसे रुके ?

कौरव और पाण्डव परिस्थितियोंके मायाचक्र पर चढ़े, दो विरोधी

मोर्चोंपर आ जमे। पाण्डवोंका राज्य एक शर्तके साथ कौरवोंके हाथमें आ गया। पाण्डवोंने अपनी शर्त पूरी की, पर कौरव अब राज्य लौटानेसे इंकार कर बैठे—सत्यसे हट गये, बेईमान हो गये।

रामके निर्णयका तक़ाजा है कि पाण्डव लड़ें, पर कृष्णका अन्तर्मन्थन आकुल है कि इस परिस्थितिमें भी युद्ध न हो, युद्धकी पशुतासे बचा जाय। वे इस बातपर भी फैसला करानेको तैयार हो गये कि पाँच पाण्डवोंको पाँच गाँव दे दिये जायँ और शेष राज्य कौरवोंके ही हाथमें रहे, पर दुर्योधन इसपर भी नहीं मानता, तो युद्ध अनिवार्य हो उठता है।

तब भी कृष्ण प्रतिज्ञा करते हैं कि वे युद्धमें स्वयं शस्त्र नहीं उठाएँगे और केवल सारथी रहेंगे—परामर्श देंगे। सचाई यह है कि पाण्डवोंके पक्षमें युद्धका नेतृत्व अब उन्हींके हाथमें है और युद्धको रोकनेवाला ही युद्ध करा रहा है।

यह कृष्णकी असफलता है, पर यहीं कृष्णकी सफलता है कि वे युद्ध करनेकी एक नई मनोवृत्ति संसारको देते हैं—युद्ध सत्यके लिए हो रहा है या असत्यके लिए, उसका करना धर्म है या अधर्म, उससे लाभ होगा या हानि, यह सब मत सोचो, इसका निर्णय तुम कर ही नहीं सकते; तुम तो बस फलकी, परिणामकी, चिन्ता और इच्छा दोनोंसे मुक्त होकर बस लड़ो, निष्काम रहो। यह है एक सामाजिक विवशताको अपने व्यक्तित्वसे जीवन-कलाका रूप दे देना।

बुद्धने कहा

रामने युद्धकी पशुताको एक ऊँचा आधार देकर संस्कृतिसे जोड़ा, तो कृष्णने युद्धकी पशुताके साथ व्यवहार करनेकी एक नई मनोवृत्ति देकर संस्कृतिसे उसका समन्वय किया, पर युद्धकी पशुता ज्यों की त्यों रही।

तब जन्मा एक क्रान्तिकारी महापुरुष—बुद्ध। उसने कहा—मनुष्यको यह शोभा नहीं देता कि वह पशुता करे। हिंसा पशुता है और अहिंसा मनुष्यता। मनुष्यकी मनुष्यताका तक़ाजा है कि वह पूरी तरह अहिंसक रहे।

संसारकी युद्धोंसे थकी मानवताके लिए यह एक नई वाणी थी, इसका समाजपर गंभीर प्रभाव पड़ा और इसकी पूर्णता हुई यों कि सम्राट् अशोकने सेनाओंका विघटन करके धर्म-प्रचारको अपना मुख्य कार्य बना लिया।

दुर्भाग्य भारतका, दुर्भाग्य संसारका और दुर्भाग्य मानव जातिका कि बुद्धके उत्तराधिकारियोंने अहिंसाका दुरुपयोग किया और राष्ट्रके जीवनपर एक दयनीय निष्क्रियता छा गई, जीवनकी क्षमता क्षीण हो चली, स्वतन्त्रता खतरेमें पड़ी और शंकराचार्यके रूपमें प्रतिक्रान्तिने जन्म ले, सफलता पाई।

संस्कृतिके इतिहासमें बुद्धका यह महादान है कि वे युद्धको खुले आम पशुता कह सके, उसका बिना ननु-नचके विरोध कर सके। उनके कार्यका महत्त्व इसीसे स्पष्ट है कि जब विक्रमादित्योंके बनाये महलों-क़िलोंकी ईंट भी खोजे नहीं मिलती, बौद्ध-बिहारोंके कलश दूर-दूर आज भी दीप्तिमान हैं!

प्रह्लादने कहा

महान् बुद्धने युद्धके—हिंसाके—अशर्त विरोधकी जो मशाल जलाई थी, वह निष्क्रियताके जिस बवण्डरसे बुझी, वह भाषामें यों था—अरे भाई, ठीक है, हम हिंसा न करें, युद्ध न करें, पर हमारा शत्रु तो अहिंसामें विश्वास नहीं करता, वह तो इसे नहीं मानता! तब क्या हम सिर झुकाकर बैठ जायें और शत्रुसे कहें कि आइए, पधारिए, हमारा सिर काट लीजिए? यदि हाँ, तो इस तरह विदेशी आक्रमणकारीसे हम अपने देशकी स्वतन्त्रताको कैसे बचायें और न बचायें तो क्या देशद्रोही हो जायें???

दिग्दिगन्तमें गूँजते इस प्रश्नका उत्तर दिया—पुराण-पुरुष प्रह्लादने। प्रह्लादका पिता राजा हिरण्यकशिपु इतना नृशंस कि ईश्वरके स्थानमें भी अपनी ही सत्ता स्थापित करनेको आतुर—आकुल और प्रह्लाद महान् ईश्वर-भक्त। दोनोंमें संघर्ष स्वाभाविक ही था, पर पिताकी आज्ञामें हिंसाकी समस्त शक्तियाँ और साधन, पर प्रह्लाद निहत्था और असहाय—एक पहाड़, तो दूसरा रोड़ा।

प्रह्लादने कहा—मैं पिताकी शक्तिका जवाब नहीं दे सकता, पर उनकी शक्तिका आदेश माननेसे इंकार तो कर सकता हूँ। क्रुद्ध होकर उनकी शक्ति मुझे कष्ट देगी। मैं उन कष्टोंको नहीं रोक सकता, पर सह तो सकता हूँ। सहते-सहते मैं मर जाऊँगा, पर मरनेकी सम्भावना, तो हिंसाका जवाब हिंसासे देनेमें भी है। ठीक है—मैं कष्ट सहूँगा, मिट जाऊँगा, पर झुकूँगा नहीं।

पुराण पुराण है। जलते लौह-खम्भसे नृसिंहके रूपमें भगवान् निकले, हिरण्यकशिपुका वध हुआ, हिंसा हारी, अहिंसा जीती। लोक-मानस विश्वासी है। वह नहीं सोचता कि हर गरम खम्भेसे भगवान् नहीं निकलते; वह सोचता है—हिंसामें लाख शक्ति हो, अहिंसा भी कोई मामूली चीज नहीं, उसके पीछे दैवकी शक्ति है।

लोक-मानसका यह विश्वास ही संस्कृतिके इतिहासमें प्रह्लादका दान है। यह दान और भी महान् हो उठता, यदि प्रह्लाद उसपर नये प्रयोग करते, पर मालूम होता है कि वे अपनी पहली सफलतासे ही इतने भावाविभूत हो गये कि फिर कुछ भी न कर पाये।

उनके पौत्र बलिने इधर विशेष ध्यान दिया और वह पूर्ण अहिंसा-वादी हो चला, तो प्रह्लादने उसे उपदेश दिया :—

न श्रेयः सततं तेजो, न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात, पण्डितैरपवादिता ॥

बेटे, न सदा क्रोध ही कल्याणकर है, न निरन्तर क्षमा ही, इसलिए आचार्योंने निरन्तर क्षमाके लिए अपवादोंकी—विशेष अवसरोंके लिए विशेष नियमोंकी, रचना की है।

इसका क्या अर्थ ? यही कि प्रह्लाद व्यक्तिगत रूपसे अहिंसाके प्रयोगमें सफल होकर भी उसके सामूहिक प्रयोगका साहस नहीं कर सके। फिर भी प्रह्लादके प्रयोगने बतलाया कि अहिंसा निष्क्रियता नहीं है और उसके द्वारा हम हिंसासे टक्कर ले सकते हैं, उसे परास्त कर सकते हैं। वह विवशता नहीं है, उसके प्रयोगमें दैवी सम्भावनाएँ हैं, उससे चमत्कार हो सकते हैं; संक्षेपमें अहिंसा एक महाशक्ति है।

प्रह्लाद कभी हुए हों, न भी हुए हों, उनका यह दान जन-मानसकी अमूल्य धरोहर है।

गांधीने कहा

एक ओर हिंसाकी सम्पूर्ण शक्ति और साधनोंसे सम्पन्न ब्रिटिश राज्य और दूसरी ओर निहत्थी, उदास और असंगठित भारतीय जनता। पहला दूसरेकी छातीपर यों सवार कि प्रार्थना सुने, न चीत्कार और दूसरा यों दबा-घुटा कि हिलनेमें भी असमर्थ।

क्या दोनोंमें युद्ध सम्भव है ? किसीने हाँ नहीं भरी और सब दिशाओंमें सन्नाटा छा गया। तब सुनाई दी गान्धीकी गम्भीर वाणी—हाँ, सम्भव है और सचमुच २७ वर्षोंमें गान्धीने असम्भवको सम्भव करके दिखा दिया !

अभीतक युद्ध-शास्त्रका सिद्धान्त था—शत्रुको इतना कष्ट दो कि वह सह न सके, मिट जाये। अब यह सिद्धान्त हो गया—शत्रुको कष्ट न देकर स्वयं उसके द्वारा इतना कष्ट सहो कि शत्रुका हृदय बदल जाय, वह शत्रुता छोड़ दे।

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ !

अभी तक युद्धका लक्ष्य था—शत्रुका नाश करना, अब उसका लक्ष्य हो गया—उसे मित्र बना लेना।

अभी तक विजयकी कसौटी थी—जो अधिक मारेगा वह जीतेगा। अब कसौटी हो गई—जो अधिक सहेगा, वह जीतेगा।

और इस प्रकार गान्धीने पशु-प्रवृत्ति युद्धको मानवीय संस्कृतिकी कसौटी—पशुसे भिन्न व्यवहार—पर खरा उतार दिया। प्रसंगान्तर न हो, तो कहें—युद्ध और संस्कृतिका एकीकरण ही विश्वके इतिहासको गान्धीकी सबसे बड़ी देन है।

तत्त्वज्ञान

हमारी संस्कृतिका तत्त्वज्ञान क्या है? पहले यह कि हमारी क्या? संस्कृतिमें भेद नहीं है—संस्कृति हिंदूकी, मुसलमानकी, ईसाईकी, यहूदीकी नहीं होती, मानवकी होती है। वह पूर्वकी, पश्चिमकी, रूसकी, अमरीकाकी, फ्रांसकी, भारत की भी नहीं होती—मनुष्यकी यह आत्मचेतना कि मैं अनेक बातोंमें समानता होनेपर भी पशु नहीं हूँ, उससे भिन्न हूँ, श्रेष्ठ हूँ, सर्वत्र समान है, इसमें भेद क्या?

हाँ, संस्कृति अपने वंश—विकास मण्डल (सभ्यता, समाज, धर्म और दर्शन) के द्वारा जिस तत्त्वज्ञान (जीवन-कला-विचार और कर्मकी प्रक्रिया) की रचना करती है, देश-प्रदेशकी परिस्थितियोंके कारण उसमें भेद सम्भव है, सहज है।

भारतमें यह तत्त्वज्ञान किस रूपमें प्रस्फुटित हुआ, उसने जन-जीवनमें क्या स्वरूप लिया, इसका अनुभव एक दिन मुझे विचित्र रूपमें हुआ।

भाई रघुवीरशरणको मरे चौथा दिन था और हम सब उनके फूल चुनने श्मशान गये थे। अस्थियां संग्रह कर एक थैलीमें भरी गईं और चिताकी

राख इकट्ठी कर, उसकी एक ढेरी बना दी गई। प्रथाके अनुसार बांसीके वृक्षकी एक टहनी उस ढेरीपर रोप दी गई।

इसका क्या अर्थ? यह नये जीवनका प्रतीक था। भारतीय तत्त्व-ज्ञानके अनुसार मृत्यु अन्त नहीं, नाश नहीं, एक परिवर्तन है। **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**—हम इधर मरते हैं, उधर जन्मते हैं। इधरकी संध्या उधरका प्रभात है। मृत्युकी यह प्रसन्नता-पूर्ण कल्पना हमारे जीवनकी एक विभूति है। चिताकी राखपर वृक्षारोपणकर हम इसीकी घोषणा करते हैं।

देरीसे हवन-सामग्री आनेके कारण वृक्षारोपणके बाद हवन किया गया। अग्निमें सामग्री छोड़नेपर वैद्य जगदीशचन्द्रजीने देखा, सामग्रीके साथ एक कीड़ा जल रहा है। बड़ी फुर्तीसे, अत्यन्त कोमलताके साथ, उन्होंने अपनी अंगुली जलाकर भी उसे बचा लिया।

इस क्षुद्र कीटका जीवन क्या, पर उसे बचानेकी एक भारतीयको इतनी चिन्ता है कि वह अपनी अंगुली जलनेकी भी चिन्ता नहीं करता। जीवनकी यह महत्ता, जीवमात्रके प्रति यह आकर्षण, जीवनके प्रति यह दिलचस्पी हमारे जीवनकी दूसरी विभूति है।

सोचा—भारतीय तत्त्वज्ञान जीवनको एक खेल मानकर भी जीवनकी उपेक्षा नहीं करता और उसके अनुसार जीवनका स्वरूप यह है कि हम पृथ्वीको स्वर्ग बनानेके संघर्षमें मृत्युका भय छोड़कर जूझते रहें और या तो हम अपने श्रमसे पृथ्वीको ही स्वर्ग बनाकर जीवनके आनन्दका उप-भोग करें अन्यथा ऐसा करनेके प्रयत्नमें ही अपने जीवनका उत्सर्गकर यश और आत्म-तुष्टिके स्वर्गमें अपना सिंहासन स्थापित करें।

जीवनका यह कितना परिपूर्ण चित्र है—मधुर, उज्ज्वल, आशा एवं आनन्दमय !

जब हम सिर्फ़ एक इकन्नी बचाते हैं

मेरठकी नौचन्दीमें एक शानदार कवि-सम्मेलन था। मैं न कवि हूँ न गायक और कवि-सम्मेलनमें इन्हींकी जरूरत पड़ती है, तो मैं एक ग़ैर जरूरी चीज़ था, पर साथियोंने पकड़ मँगाया था, तो था वहाँ—शायद प्राचीन युगके पण्डेकी तरह, शायद इस युगके गाइडकी तरह!

रातमें दरबार-कैम्पमें कवि-सम्मेलन होना था और उसके पास ही टैंटमें कवि लोग खाना-पीना कर रहे थे। क़ायदा है कि कवि-सम्मेलन होनेसे पहले कवियोंकी खूब आवभगत होती है, पर उसके बाद वे अक्सर अपने बिलके लिए संयोजकजीको खोजते फिरा करते हैं या अपना बिस्तर स्वयं ढोये तांगा स्टैंडकी ओर बढ़ते दिखाई दिया करते हैं।

इसी बीच आँधी उठ आई, बादल घिर गये और वह दौंगड़ा पड़ा कि दरबार-कैम्पकी हालत उखड़ते मेले जैसी हो गई। कवि-सम्मेलन दूसरे दिनके लिए स्थगित हो गया—कोई और रास्ता ही न था; अब प्रश्न था कवियोंको शहरतक पहुँचानेका।

श्री बालमुकुन्द 'अनुरागी' ने मित्रभावसे कहा—मेरे पास दो कम्बल हैं, इन्हें उढ़ाकर सब साथियोंको हम तांगा-स्टैंडतक चले जायँगे और वहाँसे तांगा पकड़ लेंगे, पर संयोजक अपने अतिथियोंको पूरा आराम देनेके पक्षमें थे, इसलिए उन्होंने गर्वोक्तिके स्वरमें कहा—"नहीं जी, सबको मोटरमें भेजते हैं"—पर मोटर वहाँ कहाँ थी?

वे बोले—"दिल्लीसे श्री. . .जी अपनी मोटरमें आये हैं, उसमें चले जायँगे सब।"

"वह मोटर नहीं मिल सकती!" शान्त दृढ़तासे अनुरागीजीने कहा, तो संयोजकजी बोले—"वाह साहब, मोटर क्यों नहीं मिल सकती, हमने

उनके परिवारके लिए अपने खर्चसे टैण्ट लगवाया है और सौ इन्तजाम किये हैं।"

अनुरागीजी चुप रहे और संयोजकजी अपनेको कम्बल और आत्म-विश्वासमें लपेटते-से बाहर चले गये। तभी अनुरागीजीने मुझसे कहा—"लो, संयोजकजी तो माने नहीं, पर अब यह फ़ैसला होगा कि श्री. . .जी धनपति हैं या धनपशु ?"

तभी आँधीका एक नया रेला आया और हमारा टैंट गिर-गिरूँ हुआ कि हम उधर लग गये और बात हवाके झोंको चढ़ी उड़ गई। संयोजक-जीने आकर कहा—"वे कहते हैं, यात्रामें ड्राइवर थक गया है। थोड़ा आराम कर ले, तो अभी छोड़ आयेगा।" हम सब समझ गये कि उन्हें अपनी नई गाड़ीके खराब होनेकी चिन्ता है, पर अनुरागीजी बोले—"भाइयो, कम्बल ओढ़ो, चलो, फ़ैसला हो गया।"

उनके वाक्यने औरोंको सुलझाया, तो मुझे उलझा दिया—जिसके पास धनका संग्रह है, वह धनपति; फिर यह धनपशु क्या है ?

मित्र-साथी परिस्थितियोंका रस लेते रहे, मैं सोचता रहा। उलझे रहना मेरे स्वभावके विरुद्ध है, पर उलझन तो है ही कि धनपति और धनपशुके मध्यकी भेद-रेखा कहाँ है ? क्या है ?

श्री. . . .जी धनपशु हैं, यह फ़ैसला हो गया, पर वे धनपशु क्यों हैं ? इसलिए कि उन्होंने मनुष्यकी अपेक्षा अपनी सम्पत्तिको अधिक महत्त्व दिया, तो उलझन सुलझ गई कि जो आदमी अपने संगृहीत धनको महत्त्व दे वह धनपति, पर जो उसे मनुष्यकी अपेक्षा भी महत्त्व दे, वह धनपशु; जिसके लिए संसारमें धन ही सर्वोत्तम !

मैं भी बातचीतमें लग गया, पर मुझे लगा कि सत्य अभी अधूरा ही हाथ आया है।

[२]

इस घटनाके कोई १० वर्ष बाद। मैं उस दिन देहरादूनसे मसूरी जा रहा था। बसमें जहाँ मैं बैठा, उससे अगली जुड़वा सीटपर दो सज्जन बैठे थे। एक प्रौढ़, एक तरुण। आमतौरपर मेरा ध्यान साथी यात्रियोंपर नहीं जाता; क्योंकि एकान्तमें बाहर कम, भीतर ज्यादा देखना, तो यात्रामें भीतर कम, बाहर अधिक देखना मेरा स्वभाव है। फिर पहाड़ी यात्रामें तो आस-पास होता है सजावटके कोढ़से घिरा हुआ सौन्दर्य, छछोरपनसे छाई हुई जवानियाँ, दरिद्रतासे दलित कुछ मानवात्माएँ और बाहर विराट् प्रकृतिका वैभव, पर यात्राके आरम्भमें ही एक ऐसी बात हो गई कि मेरा ध्यान सामनेवाले प्रौढ़पर जा टिका।

बस चलनेको ही थी कि बादल गहरे हो आये, तो उन्होंने जोरसे कहा—"क्यों ड्राइवर, ऊपर तिरपाल भी डाल दी है। हमारा रेडियो रक्खा है। पूरे १००० रुपयोंका है।" उन्होंने 'पूरे एक हज़ार' का जिस ढंगसे प्रयोग किया, उसने मेरे कानोंके पर्देपर एक ऐसी टंकोर दी, जो बहुत देर गूँजती रहती है।

ड्राइवरने उन्हें विश्वास दिलाया कि रेडियो सुरक्षित है। ड्राइवर जरा नीचे उतरा, तो उन्होंने क्लीनरको बुलाकर कहा—"अरे, हमारा एक हज़ार रुपयेका रेडियो ऊपर रक्खा है।" उसने भी उन्हें आश्वासन दिया। अब वे स्वयं नीचे उतरे और बसके चारों ओर घूमे—आँखें ऊपर किये हुए। लौटे, तो आप ही आप यह कहते हुए—"एक हज़ारकी रक़म है।" मैंने सोचा—एक हज़ार रुपये रेडियोकी क़ीमत है या इस आदमीकी बात-चीतका नारा?

बस चली, तो वह प्रौढ़ उस तरुणको बताने लगा कि हम कितनी सब्जियाँ लाये हैं। देहरादूनसे दो सेर पालकका शाक १) रु० में लिया

और मसूरीमें यह मिलता है १) रु० सेर, तो इस तरह एक रुपया बचा। तोरी, भिण्डी, टेण्डस, अदरक, नीम्बू, मूली; सबका हिसाब जोड़ा। बीच-बीचमें वह भूल गया, तो फिर जोड़ा। कुल मिलाकर सात रुपये बचे थे। यों हम राजपुर पहुँचे।

राजपुरसे बस चली, तो चारों ओर प्रकृतिका स्वर्ग। तभी अपनी डायरीमें कुछ लिखनेको तरुणने अपना फाउण्टेन पेन निकाला, तो उस प्रौढ़ने कहा—"कितने रुपयेका है तुम्हारा पेन ?" वह मामूली पेन था। तब प्रौढ़ने भीतरकी जेबसे निकालकर अपना पेन तरुणको दिखाया "यह १५० रुपयेसे ज्यादाका है।"

फिर गर्वमें डूबकर बोला—"मैंने यह पाँच रुपयेमें लिया था। एक पहाड़ी लड़का इसे बार-बार खोलकर देख रहा था। मैं भाँप गया कि यह अपने सेठका उड़ाकर लाया है। बस, मैं उसे अपने साथ घर ले आया। पाँच रुपये नक़द दिये और अपने लड़केका पुराना कुरता। वह सुसरा इसकी क़ीमत क्या जानता ? टूट जाए, तब भी ४५ रु० कम्पनी देती है इसके !"

मैंने यह सब सुना, तो अधमरा-सा हो गया। सोचा—आज हम जिसे दूसरेके घर चोरी करनेकी लत डालते हैं, वह कल हमारा नौकर भी हो सकता है और तब वह हमारे ही घर हाथ साफ़ करेगा। सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे हम कितने दिवालिया हो गये हैं ?

पेन जेबमें डालते समय एक काग़ज़ उनके हाथको लगा। निकाला, तो कहींसे आया हुआ लिफाफा। मैं देख रहा हूँ कि वे उस लिफाफेको बहुत ग़ौरसे देख रहे हैं। यों क्या देख रहा है यह जानवर ? मेरे भीतर यह प्रतिक्रिया फूटी कि उसने तरुणकी तरफ़ लिफाफा बढ़ाकर पूछा—"देखना इसके टिकटपर मोहरका निशान तो नहीं पड़ा—यह तो दूसरे लिफाफेपर

लग सकता है ?" और तब बहुत खुश होकर बोला—"वाह-वाह, लिफाफा भी आया और टिकट भी साथ लाया; यहाँ भी दो आने बचे।"

सोचा—आजकल हर चीज महँगी है, सिर्फ़ ईमान सस्ता है और तब याद आई महाकवि कालिदासके रघुवंशकी यह बात कि ऋषि लोगोंको खेतोंपर सिला चुगनेसे जो अन्न प्राप्त होता था, उसका छठा भाग राज्य-करके रूपमें वे अलग रख देते थे, पर उसे लेने राजाका कोई आदमी आता न था, तो वे उसे अपने उपयोगमें न लेकर वापी-तड़ागके तटोंपर बो देते थे—'षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः'।

एक दिन हमारी ईमानदारी, देशकी सामूहिक व्यवस्थामें अपना भाग अर्पित करनेकी हमारी निष्ठा इस रूपमें थी, पर आज एक खाता-पीता आदमी अपने स्वतन्त्र देशकी सरकारको दो आनेका भी धोखा देनेको तैयार है !

बहुत ही सुन्दर प्रदेशसे होकर बस गुजर रही थी। मैं उस सौंदर्यमें उलझ चला, पर तभी याद आ गई मुझे मेरठवाली उस घटनाकी और मैंने सोचा कि उस दिन धनपशुके स्वरूपका सिर्फ़ ज्ञान हुआ था, यह उसका साक्षात्कार है।

अब यह सूत्र मेरे हाथोंमें आ गया था—जो जीवित मनुष्यकी अपेक्षा अपने जड़ धनको अधिक महत्त्व दे वही नहीं, जो सत्यकी अपेक्षा, न्यायकी अपेक्षा धनको महत्त्व दे, वह भी धनपशु है।

[३]

उस दिन कलकत्तेसे चला, तो रेलके डब्बेमें नीचेकी एक बर्थपर मैं था। सामनेकी बर्थपर एक तरुणी, ऊपरकी बर्थपर उनके पति और मेरे ऊपरकी बर्थ खाली।

सोनेका अभी समय नहीं था। वे दोनों नीचेकी बर्थपर बैठे बातें करने

लगे और मैं बाहरका दृश्य देखने लगा। रात अंधेरी थी, पर मीलोंतक कलकत्तेका वैभव रेलके साथ दौड़ता है, जैसे विज्ञानका दैत्य विज्ञानकी प्रदर्शिनीके बीचसे फुँकारता जा रहा हो।

अचानक किसीने मुझे छुआ-सा, तो मैंने भीतर झाँका। तरुण महाशय मेरी बर्थके नीचे कुछ देख रहे थे। क्या है भैया? मैंने पूछा, तो बोले—इन्होंने अभी-अभी उंगलीसे अंगूठी निकाली, तो वह चटककर जाने कहाँ जा गिरी?

मैंने तकियेके नीचेसे टार्च निकालकर चमकाया और कोनेमें छुपकर-रूठकर बैठी-सी उनकी अंगूठी मिल गई। मैं लेट गया—अब वे दोनों मेरे सामने थे।

अंगूठीको तर्जनीमें चक्रकी तरह घुमाते हुए तरुणीने कहा—"मौसीकी हालत तो थी नहीं कि वह प्रेजेण्ट (उपहार) दे, पर अंगूठी उसने दे ही दी। कितने रुपयेकी होगी यह?"

"पुखराज तो इसका अच्छा है, काफ़ी दामकी होगी।" तरुणने कहा और वे दोनों इतनी नहीं-इतनीके ऊहापोहमें उलझ गये, पर तरुणीको सन्तोष न हुआ। तब अंगूठीको अनामिकामें पहनते हुए उसने फैसला दिया—"इलाहाबाद पहुँचते ही इसे जौहरीको दिखाऊँगी।"

बिजली बुझा दी गई, डब्बेमें अन्धेरा हो गया, पर मेरे भीतर जिज्ञासा-का यह जुगनू चमकता रहा—मौसीकी ममता और अंगूठीका सौन्दर्य इन लोगोंको प्रभावित नहीं कर पाया और बस इनकी दिलचस्पी सिर्फ़ इस बातमें है कि इसका मूल्य क्या है; यह कैसी मनोवृत्ति है?

यह जुगनू भभककर लैम्प हो गया, जब मैंने सोचा—निश्चय ही ये दोनों पक्के धनपशु हैं।

[४]

उस दिन देहातोंके बीचसे होती मोटर बस जा रही थी और मैं सोच रहा था कि भारतके विशाल क्षेत्रको, उसके हर ग्राम और क़स्बेको रेलकी पटरीसे जोड़ देना, तो शताब्दीके बाद भी असंभव ही रहेगा, पर हम उसे पक्की सड़कसे अवश्य जोड़ सकते हैं और इस तरह हमारे देशमें मोटर व्यवसाय और व्यापार, दोनोंका ही भविष्य उज्ज्वल है।

तभी एक अड्डेपर मोटर ठहरी। पासका गाँव तो छोटा-सा ही है, पर दो सड़कोंका यह जंकशन है, इसीलिए अड्डा बन गया है। मेरी ही सीटपर एक सरदारजी अपना उर्दू दैनिक पढ़नेके बाद अपनी मोटी रानके नीचे दाबे बैठे थे।

तभी एक देहाती किशोरने बसमें झाँककर देखा और विनयके स्वरमें कहा—"सरदार जी, हमारे गाँवमें लाइब्रेरी है। उसके लिए अपना अख़बार दे दो।"

"आज हम दे दें, तो कल कहाँसे आयगा तुम्हारी लाइब्रेरीमें अख़बार?" सरदारजीने पूछा, तो किशोरने कहा—"कल किसी और भाईसे ले लेंगे। हम रोज़ इसी तरह कर लेते हैं सरदारजी!"

उचित प्रश्नका उचित उत्तर था, पर इस औचित्यमें औद्धत्यका यह दानव सहसा कूद पड़ा—"अख़बार लेना है, तो दो आने दो।" लड़केने हाथ जोड़े, वह गिड़गिड़ाया, पर सरदारजी अटल रहे। बस चली, तो आप ही आप बोले—हम तो 'बपारी' हैं; यों माल मुफ़्त बाँटने लगें, तो हमारा दिवाला खिसक जाये।"

सुनकर सोचा—'बपारी' है या नहीं यह सरदार धनपशु अवश्य है।

[५]

एक दिन बूढ़ा चाटवाला आया, तो घर-पड़ौसके बच्चे मुझे लिपट

गये—"हम तो चाट लेंगे, हम तो लेंगे।" सबको चाट दिला दी। वे चाट खाते रहे, मैं एक चटपटी गोष्ठीका आनन्द लेता रहा, पर दूसरे दिन अधिकांश बच्चोंकी तबियत ख़राब थी।

फिर एक दिन बूढ़ा आया और मैंने उसे धीरे-धीरे चरखीपर चढ़ाया, तो पता चला कि बरसातके इस बुसाऊ मौसममें पहले दिन जो चाट बिकनेसे बच गई थी, उसे भी उसने दूसरे दिनकी चाटमें मिला दिया था।

मैंने सोचा—यह ग़रीब चाटवाला भी, जो दूसरोंके स्वास्थ्यसे अपने कुछ पैसोंको अधिक महत्त्व देता है, पूरा धनपशु है।

[६]

चाटवाला चला गया, तो मैं पिछले १५ वर्षोंमें बिखरे धनपशुताके इन सूत्रोंको मिलाकर एक सीधा-सच्चा, पर समर्थ सूत्र बनाने लगा। धागे मिलते रहे, टूटते रहे, जुड़ते रहे और तब यह सूत्र हाथ लगा—

'जीवनमें हम क्या करें, क्या न करें? इस प्रश्नके समाधान और निर्णयका मापक तत्त्व है सत्य, न्याय, औचित्य और सौन्दर्य—हमारा हर निर्णय सत्यसे, न्यायसे, औचित्यसे और सौन्दर्यसे समर्थित हो, पर धनकी उपेक्षा करके जब हम अपने निर्णयको धनके लाभ या बचतकी दृष्टिसे करते हैं, तो धनपशु हो जाते हैं; भले ही यह लाभ या बचत एक आना हो या एक करोड़ रुपये; क्योंकि धनपशुता धनपतित्वका अनिवार्य अंग नहीं, यह एक वृत्ति है—एक आनेका एक शब्द कम करके जो मनुष्य तारकी स्पष्टता, उसका सौन्दर्य नष्ट करता है, वह भी निश्चय ही धनपशु है।

[७]

और तब मुझे याद आ गई वह ऐंग्लो इंडियन महिला, जिससे अचानक उस साल शिमलेमें परिचय हो गया था। मिस नार्मन साड़ियोंकी एक बहुत बड़ी दूकानमें सेल्समैन थी और उसका मुख्य काम था ग्राहक स्त्रियोंको

एकान्त कमरेमें साड़ी पहनाकर खरीदारीके लिए तैयार करना, दूसरे शब्दोंमें साड़ियोंके चुनावमें सहायता देना।

मैं यों ही एक पत्रकारकी झकमें दूकान देख रहा था कि एक दम्पति आये। दोनों साहब थे, पर यह तय करना कठिन था कि दोनोंमें अधिक काला कौन है। श्रीमतीजीने ४-५ साड़ियाँ चुनीं और मिस नार्मनके साथ कमरेमें चली गईं। वहाँसे वह क़रीनेके साथ जो साड़ी पहने हुए आईं, उसका रंग गाढ़ा था और किनारे इतने भारी कि देवीजी मुझे सांभी-सी लगीं।

उनके पतिने मिस नार्मनसे रंग और भारीपनकी शिकायत की, तो वे एक दूसरी साड़ी दिखाकर बोलीं—"भद्र पुरुष, मेरा समर्थन तो इस साड़ीको प्राप्त है, पर श्रीमतीजीकी पसन्द उसके पक्षमें है।" सचमुच वह साड़ी बहुत फबनेवाली थी।

पतिने रुपया दिया और चले गये। तभी मैंने आगे बढ़कर कहा—"मेरी बहन, क्या मैं इस साड़ीको देख सकता हूँ?" सम्बोधनसे वह प्रसन्न हुई और साड़ी उसने मुझे दिखाई। इस साड़ीकी क़ीमत २३५) रुपये थी और जो वे ले गईं उसके दाम थे ३६२) रुपये।

"माफ़ करना बहन, एक प्रश्न है कि आप उसे कम क़ीमतकी साड़ीका सुझाव क्यों दे रही थीं?" मैंने गहरे होकर पूछा, तो बहुत ही सधे स्वरमें मिस नार्मनने कहा—"मेरे भाई, मेरा काम ग्राहकोंके बटुये खाली कराना नहीं, उन्हें चुनावमें सहायता देना है।"

मैं उसे धन्यवाद दे लौट आया, पर इतने वर्षोंके बाद भी मिस नार्मन मेरे सामने खड़ी हैं और उसके साथ ही वह काली मेम भी—वही बेतुकी साड़ी पहने और पहने क्या, बस लादे!

मैं सोच रहा हूँ इन दोनों महिलाओंके ठीक बीचोबीच धनपति और धनपशुकी वह विभाजक रेखा खिची है, जिसे मैं इतने वर्षोंसे खोज रहा था। यह काली महिला है धनपशुका प्रतीक; क्योंकि इसके चुनाव-का आधार है धन और यह गोरी महिला है धनपति; क्योंकि इसके सुझावका आधार है सौंदर्य, औचित्य और न्याय !

चिड़िया, भैंसा और बछिया

[१]

पेट तो भर गया, पर आधी रोटी थालीमें शेष है। भीतरसे एकने ताना फैलाया—'अरे, खा भी लो, दो टुकड़े ही तो हैं,' और दूसरेने बाना भर दिया—'तुम तो कभी जूठा छोड़ते ही नहीं, बस चार बार मुँह और चलाओ कि थाली साफ़।'

देख रहा हूँ ताना भी ठीक है और बाना भी ठीक, पर आहार-विहारमें मैं इतना भोला होता और ऐसी सिफ़ारिशें सुना करता, तो अबतक तीन बार प्लूरिसीमें मर चुका होता !

फिर छोड़िए मरने-जीनेकी बात, दो टुकड़ोंके मोल रात भरकी खट्टी डकारें खरीदना, मुझे तो कुछ बुद्धिका व्यापार दिखाई नहीं देता।

मैं उठ खड़ा हुआ, पर इस आधी रोटीके सदुपयोगकी बात मेरे मनमें थी, तो आधी रोटी हाथमें लिये, मैं बाहर आया कि चिड़ियोंको चुगा दूँ, पर देखता हूँ कि ठेलेवालेका भैंसा सामने बँधा है।

चिड़ियोंका हमारे जीवनसे भला क्या संबंध ? सुबह-ही-सुबह नींद उचाटनेवाली चूँ-चूँ और घरमें तिनके-बीटोंका कूड़ा। हूँ: चली बड़ी चिड़ियाकी बच्ची कहींकी ! भैंसा हमारे लिए उपयोगी है, समाजका बोझ ढोता है, सो काम करता है।

भीतरसे किसीने यह ताना-बाना पूरा कि मैं अपनी आधी रोटी लिये भैंसेकी ओर बढ़ा, पर देखता हूँ, सामने ही खड़ी है पड़ौसके बाबूजीकी बछिया। गायके प्रति हिन्दूकी सहज निष्ठा है। मैं उस ओर खिच गया और बड़े लाड़से वह रोटी मैंने बछियाको खिला दी।

[२]

रोटी खिला दी, काम निमटा, पर काम कहाँ निमटा, मेरी रजाईकी मुलायम बुबकलमें कहींसे यह एक प्रश्न जो उभर आया है—क्यों जी, ममता जो मानवकी सहज वृत्ति है, उसमें यह उपयोगिताका भेद कहाँसे आ घुसा? क्या यह ममताकी शुद्धताका संहारक है या उसकी दिशाका सूचक?

प्रश्न अपनेमें साफ़ है, पर मैं उसे ज़रा और भीतरतक समझना चाहता हूँ। मेरे पास धन है मैं उसे कुकर्मोंमें उड़ा रहा हूँ। मेरे पास धन है और मैं उसे सुकर्मोंमें लगा रहा हूँ। मेरे पास धन है, पर न मैं उसे खाता हूँ, न खर्चता हूँ, बस दबाये बैठा हूँ।

हमारे भीतर एक बोध वृत्ति है, जो कहती है कि पहली और तीसरी बात बुरी है और दूसरी अच्छी है। मनकी बात है, बिना किसी बहस-दलीलके मनमें समा जाती है—हाँ जी, दूसरी ही बात अच्छी है, फिर भी यह पूछनेकी गुंजाइश तो है ही कि क्यों अच्छी है?

उत्तर साफ़ है कि उपयोगके आधारपर और यह उत्तर साफ़ है, तो यह निष्कर्ष भी साफ़ है कि उपयोगिता ही जीवनका एक मानदण्ड है, जो हमारी प्रवृत्तियोंका मूल्य आँकती है।

मैंने सोचा—तब मैंने ठीक किया कि रोटी न चिड़ियोंको दी, न भैंसेको खिलाई, बछियाको भेंट कर दी। अपने निर्णयकी प्रशंसासे मेरा आपा आप ही आप भर गया और मैं सुखसे लेट गया।

[३]

लेटते ही मुझे याद आ गई, अपने पुराने पड़ोसी रामदयालकी। उनके तीन पुत्र थे। बड़ा था भंगड़—शामको ऐसी चकाचक छानता था कि गुच; हाथी कटड़ा दिखाई दे, तो भैंस भौंरा, पर लुत्फ़ [illegible]

भी उसे यह ध्यान रहता था कि कैसे वह अपने पिताके पैसे चुराये और नशेकी खुमारीपर रबड़ीकी तह दे सके!

दूसरा लड़का गूँगा—कभीके अभिशापोंको भोगने ही जैसे जगत्में आया हो—न पढ़ा, न लिखा, कोरा लट्ठ!

तीसरा लड़का कचहरीमें नौकर, तनखाह अच्छी और उससे भी अच्छी ऊपरकी आमदनी।

रामदयाल रातदिन अपने छोटे लड़केके गीत गाता और उसकी खूब खातिरें करता। बड़ा लड़का अपनी बदमाशियोंसे मतलब भरको उचक लेता, पर वह गूँगा लड़का कमानेके लायक नहीं, उचकनेमें असमर्थ—सब तरह दूसरोंकी दयापर निर्भर। दूसरे भाइयोंके फटे कपड़ों और टूटे जूतों-पर उसे जीना पड़ता।

एक दिन वह कमाऊ पूत भोजनपर बैठा, तो उसमें मक्खी निकल आई। वह बहुत नाराज़ हुआ और जूठा खाना छोड़कर उठ गया। बापने सबको गालियाँ दीं, उसे मनाकर लाया और नई थाली परोसकर भोजन कराया।

गूँगेसे कहा गया कि भाईकी जूठी थालीमें वही मक्खीवाला खाना वह खा ले, पर वह तैयार न हुआ। बापको गुस्सा आ गया और गूँगेपर लकड़ी मार पड़ी। पेटमें भूखकी कचोट, तनपर मारकी चसक और कले-जेमें अपमानका नासूर, बेचारा दिनभर बहुत दुखी रहा।

मेरे पिताने शामको उसे बुलाकर चाय पिलाई, खाना खिलाया और पुचकारा, दुलारा। बाहरसे मैं लौटा, तो आज किस्सा उन्होंने मुझे सुनाया, और बोले—"कैसा राक्षस बाप है रामदयाल।"

रामदयालकी याद आई, तो उस यादमेंसे झाँक पड़ा, यह प्रश्न—

उपयोगिताके आधारपर ममताका बँटवारा करनेवाला रामदयाल राक्षस है, तो फिर तू ही कहाँका देवता है ?

[४]

प्रश्न मेरे ही विरुद्ध है, मुझे ही झकझोरता है, पर देख रहा हूँ, इससे मेरे ही भीतर एक मीठी रोशनी फैल रही है और मैं सोच रहा हूँ---सम्पूर्ण ममता, अपने-बेगाने, मनुष्य-पशु, देश-विदेश सबके प्रति समान ममता, अखण्ड प्रेम ही देवत्वका पथ है। **'ना जाने किस रूपमें नारायण मिल जायँ'** सन्त तुलसीदासकी यह सूक्ति जीवनकी अखण्डताका ही तो निर्देश करती है। धर्म और राजनीति दोनों ही आज इस अखण्डताके विरुद्ध बागी होकर जी रहे हैं और तभी यह विश्व नरकका अखाड़ा बना हुआ है।

भोजनके बाद खानेके लिए रक्खा हुआ सेब मैं उठकर उठा लाया और मैंने उसके चार टुकड़े कर डाले। एक भैंसेको दिया, एक बछियाको, एक अपने मुँहमें और एकको किरचें कर चिड़ियोंको बखेर दीं।

मैं ऐसी जगह खड़ा था, जहाँसे भैंसा, बछिया और चिड़ियाँ दिखाई दे रही थीं। हम सब एक ही सेबका रस ले रहे थे और मैं हल्के-हल्के यह अनुभव कर रहा था कि हम सबको जीवनका एक ही प्रवाह घेरे चल रहा है।

पाँच सौ छह सौ क्या ?

डाक्टर भी० ला० आत्रेय अपनी व्याख्यान-यात्रा समाप्त कर अमरीकासे लौटे तो मैंने उनसे कई प्रश्न पूछे। उन्हींमें एक यह था—"आप स्वयं एक विद्वान् हैं और इस नाते निरन्तर अपने देशमें विद्वानोंके सम्पर्कमें रहे हैं। अमरीकामें भी आप अनेक विद्वानोंसे मिले होंगे। क्या वहाँके विद्वानोंमें और भारतके विद्वानोंमें आपको कुछ अन्तर दिखाई दिया ?"

डाक्टर आत्रेयने इसका उत्तर दिया था—"वहाँके विद्वान् बहुत 'ऐक्जेक्ट' हैं और कभी अपने अनुभवसे बाहर नहीं जाते।"

ऐक्जेक्ट ? और मैं रुल-सा गया था, तो उन्होंने कहा था—"हमारे विद्वान् निर्णय पहले कर लेते हैं और बादमें अध्ययन करके निष्कर्ष निकालते हैं। हम लोग ऊपरसे नीचे जाते हैं, वे नीचेसे ऊपर आते हैं। बातचीतमें वे उतना ही कहते हैं, जितना उनके अनुभवमें या अध्ययनमें निश्चित रूपसे आ चुका होता है। इसीलिए उनसे मिलकर एक गहराई और स्थिरताका स्पर्श अनुभव होता है और एक निश्चित परिणामपर हम पहुँचे होते हैं !"

काम चलाऊ रूपमें उनकी बात मेरी समझमें आ गई थी, पर 'ऐक्जेक्ट' का पूर्ण भाव-स्पर्श मुझे नहीं हुआ था और कभी-कभी यों ही यह ऐक्जेक्ट शब्द मेरे भाव-मानसमें कुछ खोजता-सा टकराया करता था। तभी मैंने पढ़ा चीनी दार्शनिक लिन यू तांगका एक उद्धरण।

उसमें कहा गया था कि अमरीकन और एशियाई मनोवृत्तिमें जो अन्तर है वह इस उद्धरणसे स्पष्ट हो सकता है कि यदि किसी अमरीकन इन्जीनियरको एक सुरंग खोदनेका काम दिया जाय, तो वह इतनी बारीकीसे उसका नक्शा बनायेगा कि दोनों ओरसे खुदती हुई सुरंगें ठीक बीचमें

मिलकर एक होंगी तो उसकी सीधमें ज़रा भी फ़र्क़ नहीं होगा, पर एशियाई इन्जीनियरका नक़्शा ऐसा भी बन सकता है कि दोनों तरफ़से खुदती हुई सुरंगें कहीं बीचमें मिले ही नहीं और दोनों आर पार हो जाएं। मजेदार बात यह है कि यदि अमरीकन इन्जीनियरकी सुरंगमें २-४ इंचोंका फ़र्क़ रह गया, तो वह इसे अपनी बहुत बड़ी हार मानेगा, पर एशियाई इन्जीनियर सुरंगके बीचमें कहीं न मिलनेपर भी कहेगा—चलो कोई बात नहीं एक नहीं तो दो रास्ते हो गये !

पढ़कर खूब हँसी आई, पर ऐक्जेक्टका ऐक्जेक्ट अर्थ पूरी तरह समझमें आगया। ऐक्जेक्ट, एकदम निश्चित, जिसमें बाल बराबर फ़र्क़ न हो !

हम उन दिनों अपने जिलेके शारीरिक प्रदर्शन समारोहकी तैयारियाँ कर रहे थे। रुड़कीका फ़ौजी मैदान इसके लिए चुना गया था। एक दिन प्रदर्शनके मुख्य विधाता भाई गंगाधर सिंह प्रबन्ध-व्यवस्थाके संबंधमें छावनीके फ़ौजी अधिकारीसे मिले। बातों-बातोंमें अधिकारीने पूछा—'प्रमुख दर्शकोंके लिए आपको कितनी कुर्सियाँ चाहिएँ ?'

सादगीसे गंगाधरसिंह बोले—"यही पाँच छः सौ कुरसियाँ काफ़ी होंगी।"

झपाटा मारते-से अधिकारीने कहा—"यह पाँच सौ छह सौ क्या; ५०६, ५१३, ५२५, ५७२ ५८५, ५९५ या ६०० चाहियें।"

सचाई यह है कि विचारोंमें, बातोंमें और व्यवहारमें ऐक्जेक्ट होना, सुनिश्चित होना जीवनकी ऊँचाईका मानदण्ड है। उस दिन मैं और श्री ओमप्रकाश मित्तल कहीं जा रहे थे कि एक मित्र मिले। बोले—"कल किसी समय आपसे मिलने आऊँगा।"

मित्तलजीने कहा—"किसी समय नहीं, इसी समय बताइये कि किस समय आइएगा ?"

बात हँसकर कही गई थी, पर ठीक थी, क्योंकि 'कल किसी समय' में दिनके १०-१२ घण्टे तो थे ही, रातके ४-५ घण्टे भी शामिल थे। इस दशामें कोई किसीसे मिलनेको कबतक बैठे; और खासकर उस दशामें जब कि उनका आना-न-आना दोनों संभव है!

वे बोले—"दोपहर बाद आऊँगा।"

वही बात कि वे अपने कार्यक्रममें ऐक्जेक्ट नहीं थे। न एक बजे, न ढाई बजे, न सवा चार बजे, न पौने पाँच बजे—बस दोपहर बाद!

यहीं सामने आ गया है गाँधीजी और सरदारका एक मजेदार संस्मरण। दोनों किसी मसलेपर बातें कर रहे थे कि रोककर सरदारने कहा—"अजी, छोड़िए इन बातोंको और यह बात बताइए कि कितनी खजूर भिगोऊँ?"

"पन्दरह खजूर भिगो दो।" गाँधीजीने कहा।

"पन्दरह नहीं, बीस भिगोता हूँ—अन्तर ही क्या है पन्दरह और बीसमें!" सरदार बोले।

"अच्छा, तो दस भिगो दो।" गांधीजीने कहा।

"ऐं! दस ही?" सरदार चौंके, तो गांधीजीने कहा—"ऐं क्या; जब पन्द्रह और बीसमें अन्तर नहीं। तो दस और पन्द्रहमें ही क्या अन्तर है?"

दस और पन्द्रहमें जो अन्तर है, सो तो है ही, पर सात और आठमें उससे भी बड़ा अन्तर है, यह उस दिन जाना।

"[illegible] जा रहे हो?" श्रीओमप्रकाश मित्तलने एक मित्रसे [illegible] सात-आठ बजेवाली गाड़ीसे जा रहा हूँ।"

[illegible] मित्तलजीने कहा—"आपको गाड़ी [illegible] मिल जायगी।"

"[illegible] है?" उन्होंने पूछा, तो उत्तर मिला—"नहीं,

कोई खास बात नहीं, सिर्फ यह बात है कि आप सात बजे स्टेशन गये, तो आपको दिल्ली जानेवाली गाड़ी मिलेगी और आठ बजे गये, तो अम्बाला जानेवाली, पर गाड़ी जरूर मिलेगी।"

ओह, एक घण्टेका इतना मूल्य कि पूर्वको जानेवाला यात्री पश्चिमको चल पड़े। फिर घण्टा ही तो समयकी सबसे छोटी इकाई नहीं है! उसका साठवाँ भाग मिनट है और उसका भी साठवाँ भाग है सेकेंड! देखी तो होंगी आपने सेकेण्डकी सुई, जो पलक झपकते अपना चक्कर पूरा कर लेती है?

और यह मिनट और सेकेण्ड, इतने शक्तिशाली तत्त्व हैं कि मनुष्यका भाग्य बदल सकते हैं, क्योंकि यदि आपके जन्मका समय नोट करनेमें माता-पिता जरा भी चूक गये हों, तो फलित ज्योतिषके अनुसार आपका जन्म-लग्न बदल सकता है और उसके कारण आपके भाग्यका पूरा फलादेश भी। इस दशामें आप एक अच्छी दुलहन पानेसे वंचित रह सकते हैं; क्योंकि अब आपकी कुण्डली उसकी कुण्डलीसे नहीं मिलती!

फिर मिनट-सेकेण्डका मामला पुराण-पंथियोंका ही तो प्रश्न नहीं कि हम उन्हें दकियानूस कहकर टाल दें, यह तो एक वैज्ञानिक प्रश्न है। अन्त-र्राष्ट्रीय ज्योतिष सम्मेलनने अपने डबलिन अधिवेशनमें आजके सेकेण्डको बहुत बड़ा मानकर एक नये छोटे सेकेण्डकी रचना की है। इसके अनुसार ६४।। दिनमें मनुष्यको १ सेकेण्डका, प्रतिवर्ष ५।। सेकेण्डोंका और प्रति ग्या-रह वर्षोंमें एक मिनटका लाभ होगा। और भी जरा आगे बढ़ें तो ६५५ वर्षों-में एक घण्टा!

क्या हम इसे उन वैज्ञानिकोंकी झक मानें? तेनसिंह और हिलैरी एक साथ एवरेस्टपर चढ़े, पर संसारका यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा कि दोनोंमें पहले किसने अपना क़दम ऊपर रक्खा? ठीक है कि दोनोंमें बहुत अन्तर नहीं हो सकता, पर इस नगण्य अन्तरके गर्भमें ही एक बड़ा प्रश्न

छिपा है—'संसारके सबसे ऊँचे शिखरका विजेता पूर्वको माना जाय या पश्चिमको ?' इस बड़े प्रश्नका एक काल्पनिक प्रश्न है, जो इसपर तेज रोशनी डालता है—यदि मंगल लोकके लिए अमेरिका और भारतसे एक साथ दो जहाज उड़ें और दोनों ही तीन बजकर पैंतीस मिनटपर मंगलमें प्रवेश करें, तो प्रथम प्रवेशका श्रेय किसे मिलेगा ? निश्चय ही उसे, जिसे इस नई छोटी सेकेण्डका समर्थन प्राप्त होगा।

फिर जीवनमें ऐक्जेक्ट होनेके लिए सेकेंडों, मिनटों, घण्टों या दिनोंका ही तो प्रश्न नहीं है, उसके लिए एक शब्द और एक स्पर्शका भी महत्त्व है। दोनोंका उदाहरण महादेव भाईकी डायरीमें सुरक्षित है।

गाँधीजीने उस समयके भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होरको जेलसे एक पत्र लिखाया। उसमें, एक वाक्य था—'मैं आपका बहुत आभारी हूँ' पर बादमें उन्होंने 'बहुत' शब्द निकलवा दिया !

उसी जेलमें एक दिन सरदार पटेल गाँधीजीके लिए सोडा और नींबू पानीमें घोल रहे थे कि उनपर गाँधीजीकी तकड़ी झाड़ पड़ी—"क्या आपको नर्सिंगका एक कोर्स देनेकी जरूरत नहीं है ? देखिए तो, आपने चम्मच ऊपर पकड़नेके बजाय ठेठ मुँहके पास पकड़ा है। यह सारा चम्मच गिलासमें जायगा, इसलिए उस जगह उसको हाथसे छूना ही नहीं चाहिए। और जिस रूमालसे आपका मुँह पोंछा जाता है, उसीसे आपने इस चम्मचको साफ़ किया। आपको मालूम है कि कोई नर्स आपरेशनके कमरेमें ऐसा करे, तो उसे बर्खास्त कर दिया जाए !"

तो जीवनका नाश करनेवाले दोष प्रमादसे बचिए, ढीलूपन और [illegible]—दोनोंसे दूर रहिए, व्यवस्था और नियमितताके नियमोंका पालन कीजिए और संक्षेपमें, ठीक तरह काम कीजिए, ठीक समय काम कीजिए, ठीक काम कीजिए; यानी ऐक्जेक्ट रहिए !

बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे ?

उस दिन दिल्लीमें एक मित्रसे मिलने सुबह-ही-सुबह उनके घर गया, तो मिलते ही बोले—"बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे ?" उनकी सालीजी आई हुई थीं और वे उनके साथ बिड़ला-मन्दिर जानेको तैयार थे। मेरे पास न समय था, न रुचि; मैं कुछ देर मित्रसे बातें कर चला आया।

बाजारसे कुछ चीजें खरीदीं और तब एक दूसरे मित्रके घर जा निकला। समयकी बात, उनके भी कुछ सगे-संबंधी आये हुए थे और वे कहीं जानेकी तैयारीमें थे। छूटते ही पूछ बैठे—"भाई साहब, बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे ?" मुझे जाना नहीं था, लौट आया।

दो-चार गलियाँ पारकर चाँदनी चौकमें आया ही था कि एक मोटर मेरे पास आकर ठहर गई। देखा, पूरे परिवार और कुछ दूसरोंके साथ मोटरमें भरे वे कहीं जा रहे हैं। वे, मेरे एक मित्र और बस वही प्रश्न—"चलिए, चलते हैं बिड़ला-मन्दिर देखने ?"

मैंने हाथ जोड़े और आगे बढ़ा, पर देखता हूँ एक प्रश्न सामने खड़ा है—ये सब बिड़ला-मन्दिर देखने जा रहे हैं, तो क्या यह विशाल मन्दिर सिर्फ़ देखनेके ही लिए है ?

जानता हूँ देखना जीवनका कोई साधारण सुख नहीं है, आँख है, तो जहान् है, पर मैं एक आस्तिक प्राणी हूँ और अशान्तिके अनेक अवसरोंपर मन्दिरोंके वातावरणमें शान्ति पा चुका हूँ। हरद्वारमें मीलोंकी चढ़ाई चढ़कर अनेक बार मैं चण्डीके मन्दिरमें पहुँचा हूँ और फिर वहाँसे नीचे उतरकर गौरीशंकरके मन्दिरमें गया हूँ, शाकम्भरीके वनमें विहरा हूँ और हृषीकेशके वनको पारकर आकाश तककी चढ़ाई चढ़ मैंने नीलकण्ठके मन्दिरमें भी अपनेको पाया है।

ये सब तीर्थ हैं और जीवनके निर्माणमें, उसे बहिर्मुखतासे मोड़कर अन्तर्मुख करनेमें सहायक-साधन हैं। मैं जब पहली बार बिड़ला-मन्दिर गया था, मुझे यह बात खटकी थी कि वहाँ कोई पूजन नहीं कर सकता, केवल दर्शन कर सकता है, पर दर्शन भी देखना ही रह गया है, यह आज जाना।

दिल्लीका लाल किला भी देखना है और बिड़ला-मन्दिर भी; वैसे ही, जैसे संसद-भवन भी और क्या वैसे ही कि जैसे सिनेमाका कोई शो भी ?

दर्शन और देखना, देखना और दर्शन, दोनों मेरे भीतर आगे-पीछे घूम रहे हैं। वे क्या घूम रहे हैं, मैं ही घूम रहा हूँ। घूम इतनी तेज है कि अपनी प्रौढ़ वयमें ही मैं कोई ५-६ वर्षका बालक हो गया हूँ और हरिद्वारमें गंगा नहाने पहुँचा हूँ। मा मेरे साथ है और वह चाहती है कि मैं गंगामें घुसकर गोते लगाऊँ, पर इतनी विशाल गंगा और यह तेज धारा, मेरी हिम्मत नहीं होती।

माँ जलसे ऊपरकी पैड़ीपर बैठ गई और उसने मेरा एक हाथ मजबूतीसे पकड़कर मुझे दो पौड़ी जलमें उतार दिया। माँ के हाथमें मेरा हाथ है और मैं छबकछब नहा रहा हूँ—वाह, क्या आनन्द है ?

और बस मैं फिर बालकसे प्रौढ़ हो गया हूँ। देखता हूँ चाँदनी चौक-में चला जा रहा हूँ, मेरे भीतर घूम रहे हैं दर्शन और देखना, देखना और दर्शन और मैं अब पकड़ पा रहा हूँ जीवनका यह सत्य कि दर्शन है माँ का हाथ पकड़कर गंगामें नहाना !

क्या मतलब ? हाँ, ठीक है, सत्यका सूत्र हाथ आ गया है और उसकी व्याख्या अभी शेष है। हम देवताकी मूर्तिके दर्शन करते हैं, तो माका हाथ पकड़कर नहाते ही तो हैं। मनुष्यके भीतर, उसकी पार्थिव देहके अन्तरमें चैतन्यकी एक विशाल और तेजस्वी धारा बहती है, पर अपनी बहिर्मुखता-

मे डूबे हम उसमें उतर नहीं पाते, उसके स्पर्शका सुख नहीं ले सकते, तो अपनी सारी बहिर्मुखताको बाहर स्थित देवताकी प्रतिमामें थमा-अटका, भीतर बहती चैतन्यकी उस धाराका एक नन्हा-सा स्पर्श ले लेते हैं। यही दर्शन है।

और देखना फिर क्या है ? प्रश्न ठीक है। देखना एक तो देखना ही है कि जो आँखोंके सामने आया दिख गया—देख लिया और एक देखना है विशेष वस्तुका देखना; लाल क़िलेका देखना, किसी दूसरी सुन्दर वस्तुका देखना, उसका देखना जिसे हम प्यार करते हैं। यह देखना ही असलमें देखना है और इसका अर्थ है अपनी सारी बहिर्मुखताको, जो यहाँ वहाँ बिखरी है, किसी बाहरी, पर विशेष वस्तुमें एकत्रित करना।

और लो, खरीजका रुपया बनाये दे रहा हूँ—दर्शन है आन्तरिक एकाग्रता और देखना है बाहरी एकाग्रता। पहली विकासका पथचिह्न है और दूसरी विलासका।

दर्शन और देखनाकी धूम पूरी हो गई है, पर एक नया प्रश्न फूट आया है—तो क्या बिड़ला-मन्दिर भी हमारी 'लक्जूरियस लाइफ़' का ही एक चोंचला है—वह जीवनकी विलासिताका ही एक अंग है ? उसका कार्य हमारा मनोरंजन करना ही है, मानस-विकास नहीं ? वह दर्शनकी भी नहीं, बस देखनेकी ही एक चीज़ है ?

मेरे पैर सड़कपर इच्छित दिशामें बढ़े चले जा रहे हैं, पर मस्तिष्कमें वही प्रश्न घूम रहा है—तो बिड़ला-मन्दिर भी देखना है और लाल क़िला भी; वैसे ही जैसे संसद भवन और वैसे ही, जैसे सिनेमाका कोई शो भी ?

पैरोंका काम पूरा हो गया और यह लो मैं अपने मित्रके द्वारपर हूँ। भीतर गया तो देखा, मित्र तो नहीं हैं, उनकी पत्नी हैं। उन्हें देखते ही मेरा प्रश्न जैसे फूट पड़ा—"आपने कभी बिड़ला-मन्दिर देखा है भाभी ?"

उत्साहसे बोलीं—"हाँ भैया, देखने लायक़ जगह है, वह तो! हमारे यहाँ कोई मेहमान आता है, तुम्हारे भाई साहब उसे जरूर दिखाने ले जाते हैं। क्यों तुमने नहीं देखा क्या?"

उनके उत्साहसे मैं और गहरेमें उतर गया। हर खोज देखने लायक़ पर पहुँचती है और मनकी उधेड़ बुन यह है कि वह कुछ और हो, पर नहीं, देखने लायक़ ही है बिड़ला-मन्दिर! मेरी आस्तिकता विह्वल होकर पूछती है—अरे देखने लायक़ तो हर तमाशा होता है, इसे तो तीर्थ होना चाहिए, जहाँ निर्माणकी प्रेरणा मिले, निर्माणका उद्बोधन!

मुझे लगा कि मेरे भीतर एक आँधी चल पड़ी है—विचारोंकी, मन्थनकी, चिन्तनकी आँधी और उसीमें कहींसे सुन पड़ी यह बाँसुरी—"मूर्ख, धन तमाशोंका ही निर्माण कर सकता है, तीर्थंका नहीं; तीर्थका निर्माण करनेकी शक्ति तो केवल तपमें है!"

आँधी शांत हो चली है और तीर्थके वातावरणसे मेरा मन भर उठा है। मैं यह भूल गया हूँ कि कहाँ, किसके निकट हूँ और मेरी आँखें बंद हो गई हैं, हाथ भी परस्पर आ जुड़े हैं।

भाभीने मुझे इस मुद्रामें देखा है और चुटकी ली है—अरे भाई, यह क्या पूजा-सी कर रहे हो?

प्रश्नने मुझे समेट लिया है, मैं अपनेमें सिमट आया हूँ, पर अनुभव कर रहा हूँ कि मैं अभी हाल किसी तीर्थमें भक्ति भावसे आत्मचिंतन कर लौटा हूँ।

छोटा-सा पानदान; नन्हा-सा ताला

उस दिन दिल्ली जा रहा था। खेतोंमें प्रकृतिका महोत्सव हो रहा था। उगे-उभरे गेहूँके खेत, हरी मखमलके कालीनसे और बीच-बीचमें पका-पनपा ईख, सरसोंकी पीली छिटक, तो मटरके तितलियोंसे होड़ बाँधते रंग-बिरंगे फूलोंकी बहार। देखो तो आँखें ठंडी हों, सोचो तो दिमागमें कारीगरीके पौधे खिल जायें और समझो तो बस समझनेको कुछ बाक़ी न रहे; जंगलका हर पत्ता एक उपन्यास हो रहा था।

इसी उपन्यासको पढ़ते-पढ़ते रेलके डब्बेमें झाँका, तो देखा मेरे सामने-वाले सज्जन अपने छोटेसे पानदानसे निकालकर पानका टुकड़ा खा रहे हैं। अरे साहब, उन्होंने पान खाया और पानदानपर एक नन्हा-सा ताला लगाकर रख दिया।

मैं फिर अपने खेतोंमें उलझ गया और यों ही फिर डब्बेमें झाँका, तो वही दृश्य कि उन्होंने पानदान निकाला, ताला खोलकर पान लगाया-खाया और सावधानीसे ताला बन्दकर रख दिया।

क्या इस आदमीके इतने दुश्मन हैं कि इसे पानमें भी विषका भय है? या यह आदमी इतना संकीर्ण है कि अपना पानदान अपनोंसे भी अछूता रखना चाहता है?

ये दो प्रश्न मनमें उठे तो सही, पर इनका समाधान कैसे हो? यह लिपटी हुई जन्मपत्री खुले कैसे?

मैंने उस आदमीकी आकृतिका अध्ययन आरंभ किया। उम्र कोई ६० साल; स्वास्थ्य साधारण, चेहरेपर कठोरता और रोब। मुझे लगा कि पानदानके तालेका मार्ग कहीं इधर ही है और तब मैंने उन्हें बातचीतकी खरादपर चढ़ाया। पता चला कि हज़रतके घरमें बेटे हैं, पोते हैं, पोतियाँ

हैं, बहुए हैं, पेंशन आती है, घरवाली मर गई है, बेटे मामूली हालतमें हैं—पढ़ानेकी बहुत कोशिश की, पर पढ़े ही नहीं कम्बख्त। आप भी मामूली उर्दू जानते हैं। पिछली लड़ाईमें लड़े थे। कई इनाम मिले। अब रुपया सूदपर चलाते हैं।

इस जानकारीको मथकर मैंने यह सार निकाला। बूढ़ा, अपत्नीक, फ़ौजी और सूदख़ोर। विषका इसे ख़तरा नहीं, लोभ और चिड़चिड़ेपनकी तस्वीर है यह ताला।

अब मुझे अपनी परीक्षा करनी थी। मैंने प्रश्नका बाण निशानेपर रक्खा—"मालूम होता है क़िब्ला, पोती-पोते बहुत तंग करते हैं। इस तालेसे आपने उनका ख़ूब इलाज किया है।"

बूढ़ेकी आवाज गले आते-आते रुकी, तो मैंने सिसकारी दी—"सच्चाई यह है बड़े मियाँ कि बच्चोंका हाथ पड़नेसे पानका मजा किरकिरा हो जाता है।" बूढ़ेजी खुल पड़े—"बच्चे तो हैं ही साहब, पर बहुएँ उनसे भी बढ़कर शैतानकी परकाला हैं। एक मिनट चैन नहीं लेने देतीं—जरा आँख बची कि पान साफ़।"

मैं अपनी परीक्षामें पास हो गया था और अब बूढ़ेमें मुझे कोई दिलचस्पी न थी, तो मैं फिर अपने खेलोंमें था और सोच रहा था—यह ताला बूढ़ेके पानदानपर नहीं, जीवनके आनन्द स्रोतपर ही लगा हुआ है।

मेरे गलेमें एक गुनगुनाहट आ समाई और उसमेंसे प्रस्फुटित हुई रवीन्द्रनाथकी वे पंक्तियाँ, जिनका भाव है—"मैं पाप और कल्मषसे अपनेको बचानेके लिए, चारों ओरके द्वार बन्द कर बैठ गया। बाहरसे सत्य-पुण्यने पुकारा, द्वार बन्द है, कैसे हम तुझतक आयें?"

ठीक ही है, जो तालेमें बन्द है, उसतक कोई कैसे पहुँचे? फिर वह कोई सत्य हो या पुण्य, आनन्द हो या रस।

[२]

और ताला, क्या लोहे पीतलका ही ताला; जैसा बड़े मियाँने अपने पानदानपर लगा रक्खा है ?

प्रश्न अजीब है; अजीब कुछ अद्भुत नहीं, निरर्थक-अर्थहीन, क्योंकि ताला होता ही लोहे पीतलका है, पर ना, प्रश्न सार्थक है—सार्थक ही क्यों बहु-अर्थक है, अनेक अर्थवाला।

निरर्थक और सार्थककी समीक्षामें ध्यान ८००० फीट ऊँचे एक पर्वतीय नगरमें चला गया है। लताओंका एक निकुंज और उससे सटकर बिछी सीमेंटकी बेंच। पर्वत, वन, एकान्त और शीतल वातावरण। मैं बैठा हूँ, कहीं आस-पास कोई नहीं है, आँखोंमें पर्वतके शिखर हैं, तो मनमें भारतके भविष्यकी झाँकी। जीवनके कितने स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं उस भविष्यमें कि सारा वातावरण रससे ओतप्रोत है। वाह, कैसे सजीव गाँव, कैसे लहलहाते खेत, हँसते-खेलते बालक, उभरते तरुण, उत्फुल्ल रमणियाँ और शान्त-प्रसन्न बूढ़े। गाँवकी यह ताज़गी मुझपर छाई जा रही है।

तभी तीन सज्जन कहींसे उस बेंचपर आ गिरे! अशिष्ट होकर नहीं, सत्यदर्शी होकर कह रहा हूँ—आ गिरे! कोई एकान्तमें आकर जाने किस ध्यानमें बैठा है, इसका उनके लिए कुछ अर्थ ही न था। मैं उन्हें देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ ये तीनों भोन्दू पढ़े लिखे हैं, पर उन्हें यह ध्यान ही नहीं है कि कहाँ बैठें, कैसे बैठें और कैसे बातचीत करें। मैंने झुककर उन तीनोंके पैरोंकी ओर झाँका। उनमें कोई भी लंगड़ा न था। इस बेंचसे कुछ दूर आगे दूसरी अनेक बेंचें बिछी हुई थीं और वह ज़रा क़दम चल वहाँ बैठ सकते थे, पर नहीं इन्हें यहीं बैठना था।

बातोंसे जाना कि तीनों तीन कालेजोंके प्रिंसिपल हैं। एक बोले—"बड़े धूर्त होते हैं हमारे स्टूडेण्ट। ऐसी सफ़ाईसे धोखा देते हैं कि बड़े-

बड़े जालसाजोंको मात माननी पड़ती है।" दूसरा उभरा और उसने विद्यार्थियोंकी धूर्तताके कई क़िस्से सुनाये। तीसरा शिक्षा-विभागके अधिकारियोंकी बेवक़ूफ़ियोंका वर्णन करने लगा और बस उनकी बातें उनके कालेजोंके क्लासोंके घेरेमें घूमती रहीं।

मैं थोड़ी ही देरमें ऊब गया और उठ चला। चलते-चलते मैंने सोचा—विचारोंकी संकीर्णतामें कुएँके मेंढकको सबसे अधिक अभागा कहा गया है, पर ये प्रिंसिपल क्या उनसे भी अधिक अभागे नहीं हैं कि पर्वतोंकी इस प्राकृतिक गोदमें बैठकर भी अपनी चारदीवारीके अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकते!

एक दूसरी बेंचपर बैठते-बैठते मेरे मनमें आया—सरकार उपयोगिताके आधारपर अपने नियम बनाये, तो इन तीनों और इसी तरहके दूसरे अध्यापकोंको गरमीकी छुट्टियोंमें स्कूल-कालेजोंके पाखानोंकी धुलाई, छतोंकी घास-खुदाई, दीवारोंकी लिपाई, कमरोंकी पुताई और आँगनोंकी सफ़ाईके काममें लगाये। एक दिनके लिए भी कहीं जाने न दे!

इस घटनाको हुए, बरसों बीत गये, पर आज सोचा—क्या बड़े मियाँके पानदानकी तरह इन लोगोंके दिमाग़ोंपर ताला नहीं लगा था? और लगा था—हाँ, लगा ही था—तो क्या यह ताला लोहे-पीतलका था? ना, यह वातावरणका ताला था, उस लोहे-पीतलके तालेसे भी अधिक कठोर और मज़बूत!

[२]

दिल्लीकी यात्रामें एक दृश्य सदा ज्यों का त्यों मुझे देखना पड़ता है। मुज़फ़्फ़रनगरसे कुछ लोग रेलके डब्बेमें आजाते हैं और मेरठतक चलते हैं। डब्बेमें ये १०-५ आदमी क्या आते हैं, नई मण्डी ही खुल जाती है—उड़दका भाव, गेहूँका भाव, गुड़का भाव, मींगेका भाव और सरसोंका

भाव तो तुलता ही है, बीजकोंके सौदे भी छनते हैं और आढ़तियोंकी चालाकियाँ भी खरादपर आ जाती हैं। ये लोग इतने जोर-जोरसे बोलते हैं, कई-कई एक साथ बोलते हैं कि और कुछ सोचना असंभव हो जाता है। असम्भव क्या, बस इतनी देर दिमागको गल्लोंकी खत्तियोंमें बन्द रखना पड़ता है।

उन बेचारोंको देखकर, मन दयासे द्रवित हो जाता है और मैं सोचने लगता हूँ, इनके लिए दुनियामें खत्तियाँ हैं, बीजक हैं, भाव हैं, और बस और कुछ नहीं है, कुछ भी तो नहीं है—उनमेंसे कोई मेरा दैनिक माँगकर देखता भी है, तो बस मण्डियोंके भावोंका पन्ना ही पढ़ता है।

और मुझे याद आ जाते हैं अपने नगरके वे दुकानदार, जो मंगलकी छुट्टीके दिन भी अपनी तालाबन्द दूकानके बाहरी तख्तेपर ही पसरे जम्भाइयाँ तोड़ते रहते हैं और उन्हींके शब्दोंमें जिनको शिकायत है—"बाबूजी, यह अच्छी मनहूस छुट्टी है कि दिन काटे नहीं कटता!"

[४]

विद्वान् तपस्वी और संन्यासी, तीनों गुण एक साथ और रँगमें कट्टर भी—रात-दिन धर्म-रक्षाकी चिन्तामें लीन। यों ही एक बार मुझे भी सम्पर्क प्राप्त हो गया। घण्टों साथ रहा, पर उनकी किसी बातका सम्बन्ध न विद्वत्तासे, न तपस्यासे, न वैराग्यसे, न कर्मसे। हर बात १६ वीं सदीकी, हर बात जड़ताकी और हर बातका बस यही अर्थ कि ज्ञानका सूर्य, अतीतमें निकल चुका, बुद्धिकी रोशनी सदियों पहले फैल चुकी। आजके मनुष्यको कोई नई बात नहीं सोचनी—किताब देखकर तिलिस्मके दरवाजे खोलते जाना है।

देख-सुनकर बड़ी दया आई कि बेचारा घर कुटुम्बकी ममताका घेरा तोड़कर सफेदसे रंगीन हो गया, पर विचारोंके तालेको न तोड़ सका।

मेरे नगरके ही एक सज्जन हैं। २१ वर्षकी उम्रमें पुलिस दारोग़ा हुए थे, ५७ की उम्रमें पेंशन पाई और अब ८२ वर्षके हैं। यों समझिये कि चौथाई सदी पहले दारोग़ा थे, पर आज भी सारा शहर दारोग़ाजी कहता है। कोई भूला-भटका बाबूजी कह दे, तो उन्हें ऐसा लगता है कि यह मेरी चपरास छीन रहा है। तालेमें बन्द हैं बेचारे और क्या?

एक और परिचित हैं। मर-मारकर डिप्टी हो गये हैं और अब उनकी बीबी और बेटा, तो उन्हें डिप्टी कहते ही हैं. पर दुखी हैं कि माँ अब भी उनका नाम ही लेती हैं, उन्हें डिप्टी नहीं कहती।

अजी छोड़िए इस डिप्टी और दारोग़ाको, वर्माजी और केशोजीको लीजिये। वर्माजी विख्यात लेखक हैं और लेखक क्या हैं लेखकोंके महन्त हैं। पहली बार मैं दर्शन करने गया, तो बहुत प्रभावित हुआ उनकी बातोंसे। अपने संग्रहकी कथा उन्होंने सुनाई और तब कई नेताओंके संस्मरण। मैंने सोचा—ज्ञान, संग्रह और संपर्क, तीनों दृष्टियोंसे ये महान हैं और उठते-उठते जब उन्होंने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित मेरे एक लेखकी प्रशंसा की, तो उनकी स्मरण शक्ति और सहृदयताका मुझपर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा।

और केशोजी? वे एक बड़े नगरके पत्रकार हैं। कोई ३० वर्ष हुए एक साधनसंपन्न साथी उन्हें मिल गया था और वे भभक उठे थे। तब उस नगरमें वे ही वे थे। कोठी थी, फोन था, कार थी, रौब था, धूम थी—अजी, क्या न था, यह था, वह था सभी कुछ था। कुतुबमीनारसे लुढ़के कि बस लुढ़के और फिर उठनेका नाम नहीं लिया।

जब पहली बार मिले, तो उसी सूर्योदयकी कथा कही और जिन अनेक लेखकोंको मैं सिर झुकाता हूँ, उन्हें अपना निर्माण बताया। उनकी विशिष्टताका मुझपर गहरा प्रभाव पड़ा।

यह प्रभाव काफ़ी गहरा था, पर दूसरी बारके मिलनमें वह कच्चे रंगकी तरह उड़ गया; क्योंकि वर्माजीने और केशोजीने मुझसे वे ही बातें कीं--दूसरी बार ही नहीं, तीसरी, तीसवीं और सौवीं बार भी बातोंका घेरा वही रहा और अब तो मेरे मनकी स्थिति स्पष्ट है कि उनसे मिलता हूँ, तो पहले ही एक पुराना और घिसा रिकार्ड सुननेके लिए अपने कानोंको तैयार कर लेता हूँ।

स्पष्ट है कि वर्माजी और केशोजी और ऐसे ही दूसरे सैकड़ों-हज़ारों जी समयके तालेमें बन्द हैं---उससे बाहर झाँकनेकी न उनमें इच्छा है, न शक्ति---ओह, बेचारे अपने ही समयके क़ैदी; एक ऐसे तालेमें बन्द, जिसके निर्माता भी वे स्वयं ही हैं।

[५]

अब्राहम लिंकन अमरीकाके प्रेजीडेंट और अपने समयकी दुनियाके बड़े आदमी, जिनके चारों ओर काम ही काम।

कार्यालयसे लौटकर अपने मकानमें थे कि उनका राज्य-सचिव उनसे मिलनेको आया। प्रेजीडेंटने कहलाया "इस समय राज्यकी, राजनीतिकी बात मुझे पसन्द नहीं, मैं अपनी घरेलू जिन्दगीके वातावरणमें हूँ।"

राज्य-सचिवको देशके एक नाजुक मामलेमें उनका आदेश लेना है और इस आदेशके मिलनेमें विलम्ब हो, तो देशकी हानि हो सकती है, यह अनुरोध उनतक पहुँचा, तो उन्होंने राज्य-सचिवको भीतर ही बुला लिया।

प्रेजीडेंट अपने भीतरके बरामदेमें एक चुटका और बनियान-सा पहने घुटनों और पंजोंके बल घोड़ा बने हुए घूम रहे थे और एक सवारके रूपमें उनका बच्चा उनकी पीठपर बैठा उन्हें हाँक रहा था।

सचिवसे उन्होंने कहा---देखते हैं आप कि यह राज्यका नहीं, मेरे बच्चोंका समय है और इस समय मैं किसी देशका शासक नहीं, इनकी एक

सवारी भर हूँ। इसलिए आपकी बात सुननेके लिए रुकना तो मेरे बसका नहीं, हाँ, मेरे साथ घूमते-घूमते आप अपनी बात कह सकते हैं और मेरा आदेश सुन सकते हैं।

विख्यात दार्शनिक कांट जिस दिन अपने घर रहते, भोजनपर भिन्न-भिन्न विषयोंके २-३ विद्वानोंको निमंत्रित करते थे। उनका नियम था कि वे अपने विषयकी बात न चलाकर दूसरोंकी बात सुनते रहते थे।

पोपको जब समाजके लोगोंने अभिवादन किया, तो हाथ उठाकर पोपने उसका जवाब दिया। उन्हें बताया गया कि पोपके लिए अभिवादनका उत्तर देना आवश्यक नहीं है।

उन्होंने कहा—मुझे पोप बने अभी इतना अधिक समय नहीं हुआ कि मैं प्रथाओंका बन्दी हो जाऊँ और मनुष्यताके साधारण नियमोंको भुला दूँ।

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनने उत्तर प्रदेशकी विधान सभाका स्पीकर (अध्यक्ष) चुने जानेपर भी पार्टीकी सदस्यता छोड़नेसे इंकार किया, तो विरोधी दलने कहा—संसारमें यही प्रथा है कि स्पीकर किसी पार्टीका सदस्य नहीं रहता।

टण्डन जीने कहा—मेरा काम पुरानी प्रथाओंको तोड़ना भी है और नई प्रथाओंको बनाना भी।

जीवनकी स्वतन्त्रताका तकाजा है कि हम अपनेको तालेमें बन्द होनेसे बचाएँ। यह ताला लोहे-पीतलका ताला हो या वातावरणका, या फिर अन्धविश्वासका, झूठी प्रतिष्ठाका या पुरानी प्रथाका।

जीवनका सुख बन्दी होनेमें नहीं, उन्मुक्त होनेमें है। तालोंसे बचिये और लगे तालोंको तोड़िये !

शरद् पूर्णिमाकी खिलखिलाती रातमें !

[१]

किसी भी पूर्णिमाकी रात मुझे उल्लास और मस्तीसे भर देती है, फिर उस दिन तो थी शरद् पूर्णिमाकी रात; उन्मद, खिलखिलाती और पूरे जगको अपने आँचलमें समेटे उमड़ी पड़ती-सी।

फिर मैं मध्यभारतकी आनन्दपूर्ण यात्रासे लौटता; और निर्बन्ध तो नहीं, पर निर्बाध दौड़ी चली जा रही देहरा एक्सप्रेसपर सवार !

यह है छोटा-सा मोड़क स्टेशन, जहाँ मध्यभारतकी उर्वरा श्यामा धरित्री राजस्थानकी रक्त-सिञ्चित पथरीली पृथ्वीसे गले मिलती है।

राजस्थानी इतिहासके रोमांचकारी पृष्ठों और चाँदनीकी अठखेलियोंमें आँखमिचौनी-सी खेलता मैं अपनी खिड़की पर बैठा हूँ।

दूरपार पहाड़ियाँ हैं, बीचमें जंगल हैं, मैदान हैं, कहीं-कहीं छोटे झरनोंका धीमा प्रवाह है और पुराने किलोंकी टूटी चारदीवारियाँ, चौकियोंकी बुर्जियाँ बिखरी पड़ी हैं।

कोई कहने-बतानेकी बात है कि ये जड़ खण्डहर हैं—निर्जीव निरे पत्थर, पर क्या यह भी कोई कहने-बतानेकी बात है कि इन खण्डहरोंमें हरेकका एक जीवित व्यक्तित्व है—बोलता-जागता, प्राणोंकी धड़कनोंसे स्पन्दित होता, पुकारता और ललकारता व्यक्तित्व !

हमारे कहानीकारोंको प्लाट नहीं मिलते, लेखकोंको विषय नहीं सूझते और भावोंकी तितलियाँ कवियोंकी पकड़से ऊपर उड़ा करती हैं। काश, ये सब इन जड़-जीवित खण्डहरोंकी बातें सुनें और यहाँ बिखरी कहानियों, लेखों और कविताओंको बटोरें—बटोरें कि बटोरते ही रहें !

गाड़ी चल रही है कि पहाड़ियाँ ? पुराण कहते हैं पहले वे उड़ा करती

थीं; उड़ा करती होंगी, पर आज तो वे स्थिर हैं। फिर यह क्या कि कभी वे पास आ जाती हैं और कभी फिर दूर सरक जाती हैं? क्या वे अपने मनकी कोई बात मनुष्यसे कहनेको उत्सुक हैं, पर झिझकती हैं कि उनकी बात यह आदमी समझेगा क्या?

और अचानक मैं अपने डब्बेमें झाँक रहा हूँ, तो उसमें ७-८ सहयात्री हैं। क्या कर रहे हैं ये लोग? एक तो पढ़ रहे हैं गन्दी कहानियोंकी कोई पत्रिका, दूसरे एक सी. आई. डी. सिरीजकी जासूसी पुस्तक, दो फूंक रहे हैं सिगरेट और कलेजा, २-१ कर रहे हैं बकवाद; यानी कोस रहे हैं जवाहरलालको और उन प्रश्नोंपर दे रहे हैं धड़ाधड़ सम्मतियाँ, विशेषज्ञोंकी तरह, जिनका अभी अ आ इ ई भी वे नहीं जानते और बस एक है कि लिखे जा रहा है सोच-सोचकर अपना हिसाब!

और बाहर चाँदनी बरस रही है, जिसमें जीवन है, आनन्द है, रस है, एकाग्रता है।

पहाड़ियाँ दूर चली गई हैं और जंगलोंका स्थान खेतोंने ले लिया है। खेतोंमें हरियाली है, जीवनका सौंदर्य है। मैं देख रहा हूँ कि मैं दोनों ओरके हरे-भरे खेतोंके बीचसे दौड़ा जा रहा हूँ कोई ४०-५० मील प्रति घंटाके वेगसे!

कुछ कैसा-कैसा लग रहा है यह? वैसा नहीं, वैसा, वैसा नहीं! वैसा कैसा जी? खेत सदासे मेरे मित्र हैं, मैं अक्सर उनके बीचसे गुजरता हूँ; कभी दौड़कर, तो कभी धीमे-धीमे और सदा ही मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं अपने सहृदय मित्रोंकी गोष्ठीमें आ गया हूँ, पर आज मुझे वैसा अनुभव नहीं हो रहा है।

आज भी मैं उनके बीचमें हूँ, पर उनका वैसा जीवनस्पर्श नहीं पा रहा हूँ। क्या आज वे नाराज हैं? ना, बात यह है कि मैं आज उनके बीचसे, उनके पाससे गुजर ही नहीं रहा हूँ—उनके बीचसे गुजर रही है एक्सप्रेस

और उसमें मैं बैठा हूँ, तो जब मैं उनमें हूँ ही नहीं, तो उनका सुखस्पर्श कैसे पाऊँ?

तो क्या विज्ञानकी हाटपर हम सुखके मोल सुविधा ही खरीद रहे हैं?

मुझे याद आ गई वह नन्हीं-सी चिड़िया, जो उस दिन मेरी बराबरीमें उड़-उड़कर कलाबाजियाँ कर रही थी। मैं रेलके पुलपर खड़ा था, धरतीसे कई सौ फीट ऊँचे और वहीं वह उड़ रही थी।

अचानक मेरे मनमें प्रश्न आया था कि ऊँचाईमें तो मैं और यह समान ही हैं, फिर आकाश-भ्रमणका जो सुख इसे मिल रहा है, मुझे क्यों नहीं मिल रहा?

चिड़ियाको इस प्रश्नसे खीज हुई थी और अपनी चीं-चींमें उसने कहा था—हम दोनोंकी ऊँचाई समान है, पर मैं हूँ यहाँ अपने पंखोंके सहारे और तुम खड़े हो मुर्दे लट्ठोंपर; तुम्हें भला यह सुख कैसे मिले?

चाँदनी बरस रही है, खेतोंपर, पर्वतोंपर, वृक्षोंपर और मैं सोच रहा हूँ उस चिड़ियाकी बात! मन भी कम्बख्त अजीब फुदकैया है कि कहाँ खेत, कहाँ चिड़िया और कहाँ वे एक राज्यके राज्यपाल! पूरे जिलेके दौरेमें मैं उन्हें देखता रहा। पार्टियोंमें उनका दिन बीता, तो समारोहोंमें रात; बराबर वे जनताके बीच रहे, पर क्या जन-सम्पर्क था यह? ना, ना, क्यों? क्योंकि उनके पदकी प्रतिष्ठा और राजकीय वातावरणका घेरा जो उनके एवं जनताके बीच बना रहा।

चाँदनीके अथाह सागरमें तैरते हुए मेरे मनने सोचा—हमारे देशके महापुरुष लोकोत्तरताके इसी घेरेमें घिरकर अवतार हो गये—परमात्मा, परम पुरुष, परमेश्वर; उनका जीवन-चरित्र भक्तिकी कथा बन गया, पर हमारे देशकी जनतासे नित्य पूजित होकर भी वे उसकी संकटमें मानो मनौतियोंका ही केन्द्र रहे, उसे चरित्र न दे पाये!

शरद् पूर्णिमाकी खिलखिलाती रातमें !

चाँदनी बरस रही है और एक्सप्रेस छोटे स्टेशनोंको छोड़ती, उनपर उपेक्षाकी एक दृष्टि डालती बढ़ी चली जा रही है, जैसे ज्ञानी जगत्के प्रलोभनोंको देखता भर है, उनमें उलझता नहीं।

यह आई छोटे-से स्टेशनकी फाटकचौकी, जिसकी छोटी-सी कोठरीमें रहता है फाटकदारका परिवार, जिसे मिलते हैं थोड़े-से सिक्के, जिनसे वह जी पाता है, पर अपनी दृष्टिमें वह है एक अफसर कि जब चाहे दरवाजा बंद कर दे और टुकर-टुकर खड़ी ताका करे गाँवके ठाकुरकी बैलगाड़ी! "कहीं दूरपर भी रेलका धुवाँ दिखाई नहीं दे रहा!" तो न दिखाई दे, इससे मतलब? आखिर उसीका निर्णय तो यहाँ माना जायगा कि कब वह फाटक खोले और कब वह बन्द करे!

मैं देख रहा हूँ, उसका छोटा-सा कुत्ता अपने पूरे वेगसे गाड़ीके साथ दौड़ा जा रहा है। बेवकूफ़, क्या खाक दौड़ेगा भला रेलके साथ! क्या पिद्दी और क्या पिद्दीका शोरवा?

पर नहीं, वह जी तोड़कर दौड़ रहा है—चोटों और खोजोंके एक साथ नेता हिजहाइनेस शागा खाँका घोड़ा भी डर्बीकी दौड़में इससे तेज और क्या दौड़ता होगा?

तीन पलमें वह पिछड़ गया और अब वह धीरे-धीरे लौटकर जा बैठेगा फिर फाटकदारकी खाटके पास। रोज हारता है, पर शर्मसे डूब नहीं मरता; निर्लज्ज कहींका!

बिना मेरी यह धिक्कार सुने, वह लौटा जा रहा होगा, पर मेरी यह धिक्कार सुन मेरा मन लौट पड़ा है। रोज-रोजकी पराजयसे जिसकी आँखोंमें समाया विजयका स्वप्न और पैरोंमें उभड़ा अभियानका संकल्प परास्त नहीं होता, वह फाटकदारका कुत्ता हो या किसी राष्ट्रका सिपाही, क्या एक प्रेरक चरित्रका संरक्षक नहीं है?

प्रश्न गूंज रहा है, चांदनी स्वर्गका प्रसाद बांट रही है, एक्सप्रेस दौड़ी जा रही है, पहाड़ियाँ दोनों ओरसे पास आती जा रही हैं,—दराके स्टेशन-पर तो लगता है कि वे दोनों हाथोंसे जैसे एक्सप्रेसको अपनी ही गोदमें ले लेंगी-माँ जैसे दूरसे दौड़कर आते शिशुको लाड़से थाम लेती है—और डब्बेके साथी यथापूर्व अपनी कहानी, किताब, सिगरेट, बकवाद और हिसाबमें तल्लीन हैं!

[२]

यह आगया गंगापुर स्टेशन, पर यह होहल्ला कैसा है—चढ़ते-उतरते यात्रियोंका होहल्ला तो यह है नहीं, क्योंकि उसकी धुन जिस तारपर चलती है, वह है उतावलापन और यह होहल्ला जिस धुरीपर घूम रहा है, वह है पीड़ासे ओत-प्रोत बदहवासी!

क्या बात है? बात क्या है? बात है यह कि एक डब्बेमें आग लग गई है, वह काट दिया गया है और अब आधी रातको सामान उस डब्बेके यात्री प्लेटफार्मपर भाग-दौड़ कर रहे हैं कि सामान सेफ रहे, साथी सब एक साथ रहें और दूसरे डब्बोंमें जगह मिल जाय!

हमारे डब्बेके सामने भी १०-१२ आदमी आ खड़े हुए—दीन शरणार्थीकी तरह, जैसे भीतरवाले तो हैं मालिक और बाहरवाले हैं भिखारी—"बाबूजी, हमें अगले स्टेशन महावीरजी पर ही उतर जाना है। जरा-सी जगह दीजिये, आपको बड़ा पुण्य होगा।"

"ऐ! यह इण्टर क्लास है, डयोढ़ा, डयोढ़ा, आगे जाओ!" यह जवाहरलालके आलोचक रौबसे गरजे!

"पीछे, पीछे, सब खाली पड़ा है पीछे!" यह जासूसी उपन्यासके पाठकने दरवाजा रोककर कहा।

मैंने दूसरा दरवाजा खोलकर कहा—"इधर आजाइये आप लोग!"

वे सब लोग चढ़ गये और मेरे साथियोंने मुझे घूरा, जैसे किसी भंगीने कर-पात्री स्वामीका दण्ड छू दिया हो, पर मेरे कपड़ोंकी सफ़ेदी उनके कण्ठमें भर-सी गई। बाक़ी यात्री तटस्थ रहे, पर आनेवाले आपसमें इतने ज़ोर-ज़ोरसे बातें करने लगे कि किसीके लिए भी सोना असम्भव हो जाय।

मैं फिर अपनी चाँदनीमें नहाने लगा, पर तभी मेरे मनमें आया यह प्रश्न कि आजके मनुष्यका आकर्षण न प्रकृतिमें है, न मनुष्यमें, तो फिर किसमें है ?

मेरे सामने थे, उसी डब्बेके पहले यात्री, जिनमें कुछ पढ़ते रहे गन्दी कहानियाँ, कुछ जासूसी उपन्यास, कुछ फूँकते रहे सिगरेट, कुछ करते रहे बकवाद और एक लिखता रहा अपना हिसाब ही हिसाब !

और मेरे सामने थे इसी डब्बेके नये यात्री, जो इस चिन्तासे मुक्त थे कि दूसरोंकी नींद खराब न हो।

[३]

तो आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें नहीं है; यह निष्कर्ष मेरे मनमें आया कि वहीं उभर खड़ा हुआ यह प्रश्न—तो क्या आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें नहीं है ?

चाँदनी और चिंतन एक साथ मुझे अभिभूत कर रहे हैं। चाँद-नीमें सौन्दर्य है, जो आँखोंको पलक झपकनेसे रोकता है, तो चिन्तनमें स्मृतियाँ हैं, जो विचारोंके वाहनपर चढ़ी चली आ रही हैं।

एक्सप्रेसके लिए अभी दिल्ली दूर है, पर मैं दिल्ली पहुँच गया हूँ। एक मित्रने वहाँ अपने व्यापारका कार्यालय बनाया और काम करने लगे। बनतीके सभी रिश्तेदार; जाने कितनी गलियोंमें घुमाकर उनके जीवनके चौराहेसे अपने वंशकी रिश्तेदारी जोड़ता एक तरुण आया और उनके कार्यालयमें काम पा गया।

एक दिन शामको एक स्त्री कहीं बाहरसे आई और मेरे मित्रके कमरेमें ठहरी। उस तरुणने जानना चाहा कि यह कौन है, पर जान न पाया।

रातमें उस मित्रके कमरेके पिछले हिस्सेमें सीढ़ी लगाकर चम्पालाल झाँकने लगा कि अपने प्रश्नका समाधान पा ले, पर सीढ़ी धोखा दे, रपट पड़ी, तो तरुणजी छतसे पत्थरोंपर धड़ामसे गिरे और छिले-सो छिले ही, दो हड्डियाँ भी ककड़ी-सी मड़क गईं। यह स्त्री मेरे मित्रकी पत्नी थी, जो जोड़े हुए रिश्तेसे उस तरुणकी बुआजी हुईं।

[४]

पातमें पात और बातमें बात; मुझे याद आ गया विद्यालयका सह-पाठी शम्भू। किसीका पत्र आये, वह उसे पढ़ लेता। इधरसे ताकता, उधरसे झाँकता; आगपर सेकता, पानीमें भिगोता; ताला खोल लेता और चील-झपट्टा करता, पर पढ़ता जरूर। पेटका पतला, जो पढ़ता, सबसे गाता-फिरता।

अक्सर इसी धुनमें डाकखाने पहुँच जाता, सबके पत्र ले आता, रास्तेमें कहीं बैठकर सबको पढ़ता और फिर पत्रके साथ हरएकको नया रिमार्क देता। ये रिमार्क उसके चनाजोर गरम होते। किसीके पत्रमें यदि होता कि उसकी माँ उसे याद करती है, तो रिमार्क होता—"अबे तेरी महतारी स्यापा ले रही है, जाकर आँसू पोंछ आ।" यदि किसी विवाहित विद्यार्थी-की पत्नी अपने पिताके घर चली गई है, तो रिमार्क होता—"अबे बछियाके ताऊ, तेरी जोरू मेरे सालेके साथ भाग गई।"

तंग आकर एक योजना बनी और कई पत्र ऐसे आये, जिनमें शम्भूकी माँ बहिनोंका स्तुतिगान ऐसे शब्दोंमें किया गया था कि शब्दालंकारोंकी बस प्रदर्शिनी ही समझिये। शम्भूने आदतके अनुसार ये पत्र भी खोले—पढ़े, तो तबियत तर हो गई और उसने सबके सामने क़सम खा ली।

मैं सोच रहा हूँ कि चम्पालाल और शम्भू अपने अनन्त रूपोंमें क्या सर्वत्र सुलभ नहीं हैं ? और हैं, जैसा कि है ही, तो फिर आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें कहाँ नहीं है ?

हममें कितने हैं, जो किसीके खुले दरवाजेके सामनेसे निकल जायें और पलक मारते भीतरकी एक-एक चीजका सर्वेक्षण न कर लें ?

गंगापुरमें चढ़े यात्री महावीरजी पर उतर रहे थे और मैं सोच रहा था----मनुष्यका आकर्षण मनुष्य और जीवनकी भिन्न-भिन्न दिशाओंमें आज भी है, पर वह अस्वस्थ हो गया है और युगके प्रवाहमें स्नानकर उसे स्वस्थ और स्वच्छ होना है।

चांदनी खिल रही थी, खेल रही थी, बिखर रही थी, बरस रही थी और एक्सप्रेस दौड़ी जा रही थी राजधानीकी ओर। मैंने एक बार पूरी तरह चाँदनीको आँखोंमें भरकर पलकोंसे पलकें मिला दीं।

गरम सवाल; ठण्डा जवाब !

"गरमी खावै अपनेको, नरमी खावै गैरको !"

यह मेरे पिताजीका फार्मूला था।

"सौ गालीका एक गाला, मारी फूँक उड़ा।"

यह भी उन्हींका वचन है।

एक दिन उनके पास जात-बिरादरीके एक चौधरी आये और आते-न-आते गरम होने लगे। मुझे अब याद नहीं कि क्या बात थी। पिताजीने उनके ५-७ वाक्य सुने और तब सहज भावसे बोले—"चलो भाई, बाँयके कुएँपर चलें।"

अब जिस छोटी-सी बगीचीका नाम बाँयका कुआ पड़ गया है, वहाँ पहले एक बापी थी। अब वहाँ मृत्युके बादका कर्मकाण्ड होता है और एक कोनेमें अखाड़ा है; जहाँ नगरके कुछ लोग कसरत-कुश्ती किया करते हैं। वहाँ चलनेका निमन्त्रण उन्हें सहसा पिताजीने दिया, तो वे ऐसे चौंके, सोचमें पड़े कि अपनी भूल गये।

अचकचाकर बोले—"क्या है बाँयके कुएपर?"

"अखाड़ा है।" पिताजीने बहुत सादगीसे कहा।

"तो फिर?"

"फिर क्या था! तुम्हारा जी इस समय लड़नेको कर रहा है और मैं हो गया हूँ बूढ़ा, तो वहाँ इब्राहीम मिल जायगा या तोता पहलवान; उनसे तुम्हारा जोड़ बँधवा दूँगा। बस तुम्हारी तसल्ली हो जायगी और मेरा पीछा छूट जायगा।"

सुनते ही उन्हें हँसी आगई और हँसते ही पिताजीने चायका गिलास

उनको आगे किया। चायकी गरमीमें गिल, उनकी गरमी उनके ही पेटमें चली गई, तो वे लड़ते क्या?

मांका स्वभाव गरम था। कभी वे बहुत तेज हो उठतीं, तो पिताजी हँसकर कहते—"अच्छा सूर्पनखाकी झाँकी फिर सजा लेना; इस समय तो कामकी बात कर।" उनके कहनेका ढंग ऐसा होता कि लपटें मुस्कानमें बदल जातीं।

एक दिन बोले—जब दूसरा आदमी तुम्हारी तरफ़ जलता अंगारा फेंके, तो क्या करोगे? गेंदकी तरह उसे उचक लोगे, तो तुम्हारा हाथ जलेगा या नहीं? अक्लमन्दी इस बातमें है कि तुम उसकी सीधसे हट जाओ। यही बात गुस्सेकी है।"

बात बस वहीं पूरी हो गई, पर आगे चलकर जब मैं संस्कृत पाठशालामें पढ़ने गया, तो इसने जीवनमें मुझे एक बड़ा उपयोगी नियम बनानेमें बड़ी मदद की।

उस पाठशालामें एक विद्यार्थी था। बड़ी अजीब "हौबी" थी उसकी। वह सबको गालियाँ भरी पर्चियाँ लिखा करता और उनके बदलेमें जब दूसरे भी लिखकर या जबानी उसे गालियाँ देते, तो वह खूब हँसता—दूसरोंकी गालियोंमें रस लेता और उन्हें अपनी सफलता मानता।

कई बार गुरुजीकी बेंतने भी उसे दीक्षा दी, पर इससे उसने एक नया नुसखा निकाला कि बदलेमें लिखे हुए गाली-पत्र वह सुरक्षित रखने लगा और जभी उसकी शिकायत होती, तो वह उन्हें दिखाकर कहता—"ये लोग ही मुझे गालियाँ लिखते हैं गुरुजी!"

बस, [illegible] पहुँचनी बन्द हो गई और पाठशालामें गालीयुद्ध पूरे जोरसे चलने लगा। इस युद्धमें वह एक तरफ़ इकला और दूसरी तरफ़ बीसों विद्यार्थी। वे उसे छाँट-छाँटकर गालियाँ लिखते, पर वह

रोज़ एक-न-एक ऐसी नई गढ़ता कि सुनारकी सौ चोटें, लुहारकी एक ही चोटमें पूरी हो जातीं।

जान-पहचानके बाद एक दिन उसने मुझपर अपना निशाना साधा और एक छोटे छात्रके हाथ मुझे पर्चा भेजा। लिखा था—"मेरी कानी जोरूके भाई साहब—दूसरे शब्दोंमें—मेरे प्यारे सालग्रामजी, क्या आपके पास एक नया निब है?"

पर्चा पढ़कर जी भुन गया, पर तभी मुझे अपने पिताके बोल याद आये। तुरन्त मैंने एक पर्चेके साथ नया निब उसे भेज दिया। पर्चेमें मैंने लिखा था—"प्रिय भाई, आपका पत्र पढ़कर खूब हँसी आई। तुम तो बीरबलके अवतार मालूम होते हो। निब भेज रहा हूँ।"

यह पत्र और निब उसके लिए नया अनुभव था। शामको मुझसे मिला और लिपट गया। माफ़ी भी माँगी। बादमें उसने मुझे कभी वैसा पर्चा नहीं लिखा और धीरे-धीरे उसने यह आदत ही छोड़ दी। एक दिन वह मुझसे बोला—"तुम्हारे पर्चेने गालियोंका मजा ही किरकिरा कर दिया यार!"

इस अनुभवके बाद मैंने नियम बना लिया कि गरम बोल हो, गरम व्यवहार, या हो गरम खत, उत्तरमें अपनी ओरसे गरमी गायब!

जीवनमें मैं अपने इस निर्णयपर कभी नहीं पछताया और सच तो यह है कि मुझे जिन निर्णयोंसे जीवनमें सबसे अधिक सफलताएँ मिलीं, उनमें एक यह भी है।

मुझे जीवनमें अक्सर गरम खत मिले हैं और मैंने उनका ठण्डा जवाब दिया है। जवाबकी ठण्डक गरम पत्र भेजनेवालेकी गरमीको पी जाती है और वह सोचता है कि सचमुच बड़ी बेवकूफ़ी होगई।

गान्धीजी ठण्डे खत लिखनेकी कलाके आचार्य थे। १९३१ में वे

लन्दनकी गोलमेज कान्फ्रेंसमें शरीक हुए। उस दिन अल्पसंख्यक समितिकी बैठकमें प्रधान मन्त्री रैम्जे मैकडोनल्डने जो भाषण दिया, वह धमकियोंसे भरा हुआ था। गान्धीजी उसे सुनकर खिन्न उठे, पर चुप रहे और स्थानपर लौटनेके बाद, जब वे पूरी तरह शान्त हो लिये, तो उन्होंने एक पत्र लिखकर अपना विरोध प्रकट किया। बात यह है कि जवाब वाणीका हो या कलमका, वह जितना ठण्डा होगा, उतना ही प्रभावशाली होगा।

उन्हीं दिनों सम्राट् पंचम जार्जने गोलमेज कान्फ्रेंसके प्रतिनिधियोंको अपने महलमें एक दावत दी और गान्धीजीको भी उसमें आनेका पत्र लिखा।

गान्धीजीने कई दिनतक इस पत्रका उत्तर नहीं दिया। बात यह है कि गान्धीजी इस तरहकी शानदार दावतोंमें कभी शरीक नहीं होते थे, इसलिए सत्य और न्यायका पक्ष था कि वे साफ़-साफ़ इन्कार करदें, पर सोचते-सोचते एक नैतिक पक्ष उनके मनमें आया कि मैं इंग्लैंडका मेहमान हूँ और मेहमानको कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि उसके व्यवहारसे मेजबानके प्रति अवज्ञा प्रकट हो और बस उन्होंने अपने नियमको ढीला करके निमन्त्रण पत्रके उत्तरमें स्वीकृति-पत्र लिख दिया।

यदि गान्धीजी पत्रके आते ही जल्दीसे उसका जवाब दे देते तो?

मार्च १९४४ की बात है। गान्धीजी आगा खाँ महलमें नजरबन्द थे और 'बा'की मृत्यु हो चुकी थी।

'बा'की मृत्युपर भारत सरकारके गृहमन्त्रीने जो वक्तव्य केन्द्रीय असेम्बलीमें दिया, उससे गान्धीजी सहमत नहीं थे, वे उसका प्रतिवाद करना आवश्यक समझते थे।

उन्होंने प्यारेलाल भाईसे पत्र लिखनेको कहा, पर उनका लिखा पत्र गान्धीजीको पसन्द नहीं आया। गान्धीजीने स्वयं पत्र लिखा। फिर उसमें

सुधार किया। तब साथियोंने उसे देखा। बहुतसे और बहुत बार सुधारके बाद गान्धीजीने उसे फिर लिखाया।

इस तरह ५ बार सुधारके बाद डा० गिल्डरने उसे देखा और उसमें छठी बार सुधार किया और उसके अनुसार सुशीला नायरने फिरसे एक पत्र तैयार किया। तबतक गान्धीजी भी अपने पत्रमें काफी काट-छाँट कर चुके थे। इस तरह दो पत्र हो गये। इन दोनोंको मिलाकर एक तीसरा पत्र तैयार हुआ। गान्धीजीको यह अच्छा लगा, पर स्नान-गृहमें नहाते-नहाते उसे उन्होंने फिर सुना और कुछ सुधार किये। भोजन करते समय गान्धीजीने उस पत्रमें कुछ और सुधार कराये और तब वह टाइप होकर डाकमें गया।

अप्रैल १९४४में वायसराय वेवलका एक पत्र उसी नजरबन्दीमें गान्धी-जीको मिला। पत्र पढ़कर गान्धीजीका रोम-रोम गरम हो गया और उसी गरमीमें उन्होंने पत्रका उत्तर लिखा।

साथियोंको यह पत्र 'तीखा' लगा, पर गान्धीजी पूरी गरमीमें थे। बोले—"वह तीखा है ही नहीं!"

कहा गया कि—"इस तरहका पत्र न लिखें, तो क्या हर्ज है?"

गान्धीजी गरमीसे भरे थे। बोले—"लिखना तो चाहिए। न लिखूं तो मैं नीचे उतरता हूँ और लिखूं तो ऐसाही लिख सकता हूँ।"

रातमें डा० गिल्डरने कहा—"यह पत्र लिखनेका हेतु क्या है? क्या आगेके लिए पत्र-व्यवहार बन्द करनेका?"

प्रश्नमें बरसात थी, पर गान्धीजीकी गरमी उससे न बुझी। बोले—"जैसा उसका पत्र है, वैसा ही जवाब होना चाहिए, ताकि वह समझ ले कि मैं उसका अर्थ समझ गया हूँ।"

प्यारेलाल भाईने एक नया पत्र लिखा। गान्धीजीने उसे पढ़ा और तब नया पत्र लिखाया।

इसमें साथियोंने अपने सुधार सुझाये और तब गान्धीजीने एक और पत्र लिखाया—लिखाते-लिखाते भी इसमें सुधार वे कराते रहे।

रातमें डाक्टर गिल्डरको यह पत्र दिया गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने सुझाव दिये। गान्धीजीने लिखा था कि हाकिम और रैयत एक होकर काम नहीं कर सकते और गिल्डर इससे भी सहमत नहीं थे। गान्धीजी अपनी बातपर जमे रहे।

शामको घूमते समय उनका मत बदला कि साँप मालिक और नौकर पर एक साथ हमला करे, तो दोनों उसे मारनेमें सहयोगी हो जायँगे ! तब वे बोले—"अगर मेरा यह पत्र ज्योंका त्यों चला जाता, तो मेरी हँसी होती।"

और तब दूसरे दिन उन्होंने एक नया पत्र लिखवाया और वही बेवल-को भेजा गया। जब गान्धीजीको एक खतके लिए इतनी सावधानी और श्रमकी आवश्यकता थी, तो मुझे-आपको कितनी जरूरत है ?

आदमी गरम खत कब लिखता है ? जब वह किसी बातसे गुस्सेमें आ जाय। गुस्सा दिमागपर सवार है, तो क़लममें ठण्डक कहाँसे आयगी ?

क्या आप चाहते हैं कि किसीको गरम खत न लिखें ? हाँ, तो उस समय कोई खत न लिखिये, जब आपको गुस्सा चढ़ा है और लिखनेका आवेग इतना प्रबल हो कि बिना लिखे रहा ही न जाय, तो अवश्य लिखिये, पर उसे लिखकर रख लीजिये, तुरन्त डाकमें न डालिये। दूसरे-तीसरे दिन जब आप उसे शान्तिमें पढ़ेंगे, तो आपको वह मक्खियों भरा दूध दिखाई देगा और आप उसे फाड़कर दूसरा खत लिखेंगे, जिसमें ताना-तनाजा एक नहीं, सिर्फ कामकी बात होगी।

क्या आपके पास किसीका गरम खत आया है और आप गुस्सेसे भर

उठे हैं ? हाँ, तो आप भी ठहरिये और अभी खत न लिखिये। ठहरना सम्भव न हो, तो फिर लिख लीजिये खत और फोड़ लीजिये उसमें दिलके छाले, पर उसे डाकमें न डालिये।

सौ बातोंकी एक बात यह है कि गुस्सा आदमीको सोचने लायक नहीं छोड़ता। अब आप अगर गुस्सेमें खत लिखते हैं, तो वह इस लायक कहाँ है कि उसपर कोई विचार करे ? इसी तरह जब आप किसीका गरम खत पढ़कर गरमा गये और तभी लिख बैठे उसका जवाब तो वह इस लायक कहाँ होगा कि उसपर कोई विचार करे ?

हमेशा ठण्डा खत लिखिये, गरम खतका ठण्डा जवाब लिखिये और साफ़ बात यह है कि ठण्डे होकर खत लिखिये।

जब उन्होंने तालियाँ बजा दीं !

बसन्तोत्सवके मन्त्रीजी आये थे, कह गये हैं कि इस बारके प्रमुख वक्ताओंमें उन्होंने मेरा भी नाम सर्व सम्मतिसे रक्खा है। शहर भरमें लगानेके लिए उन्होंने जो दो हज़ार पोस्टर छपाये हैं, उनमें भी मेरा नाम छापा गया है। अपनी फाइलमें लगा वह पोस्टर उन्होंने मुझे दिखाया भी था। इच्छा तो हुई थी कि यह पोस्टर उनसे माँग लूँ, पर यह मुझे ज़रा हल्कापन लगा। फिर यह भी सोचा कि काहेके लिए अपनेको उनकी निगाहोंमें गिराऊँ; आखिर ये दो हज़ार पोस्टर लगेंगे तो शहरकी दीवारोंपर ही—कहींसे भी चुपचाप एक उतार लूँगा। फिर यही क्या जरूरी है कि मैं खुद उतारता फिरूँ गलियोंमें पोस्टर। किसी लड़केको दो पैसे दिये और पोस्टर घर आ गया।

तो खैर, मैंने यह अच्छा ही किया कि पोस्टर उनसे नहीं माँगा और मनकी बात मनमें रख ली। फिर भी मन्त्रीजीकी आँख बचाकर मैंने वह पोस्टर पढ़ जरूर लिया था। वक्ताओंमें ७ नाम थे और उनमें मेरा नाम तीसरे नम्बरपर था। प्रिंसिपल त्रिवेदी और बाबू राजकुमार एम. एल. ए. का नाम ही मेरे नामसे ऊपर था। इसका मतलब साफ़ है कि मन्त्रीजी और नगरके दूसरे लोग मेरी योग्यतासे पूरी तरह परिचित हैं।

फिर प्रिंसिपल त्रिवेदी और राजकुमार एम. एल. ए. का नाम भी उन्होंने मेरे नामसे ऊपर सम्भवतः उनके पदोंके कारण ही छापा होगा; वरना यह भी सम्भव है कि मेरा ही नाम सबसे ऊपर रहता। वैसे तीसरा नम्बर भी क्या बुरा है। राह चलते आदमीकी निगाह जब पोस्टरपर पड़ती है, तो ऊपरके तीन नाम ही आँखोंमें आते हैं।

खैर, यह तो निश्चित है कि इस पोस्टरको सारा शहर पढ़ेगा और इस तरह इस पोस्टरसे मेरा नाम सारे शहरमें एक बार तो गूँज ही उठेगा।

यह भी एक बात ही है कि मेरा नाम बाबू राजकुमार एम. एल. ए. के बाद छपा है। कहते हैं कभी-कभी क़िस्मत इतनी दूरसे इशारा करती है कि उसे समझना हरेकके बसका नहीं होता। कौन जाने यह भी मेरी क़िस्मतका एक इशारा ही न हो!

राजकुमार एम. एल. ए. के बाद मेरा नाम छपा है, तो क्या यह सम्भव नहीं कि उनके बाद मुझे ही एम. एल. ए. होना हो? वे दो बार एम. एल. ए. रह चुके हैं, अब काफी बूढ़े हो गये हैं और बिना चाहे वसन्तोत्सव-में भाषण देनेके लिए मेरा रक्खा जाना इस बातका सबूत है कि लोग मुझे चाहते हैं, पसन्द करते हैं।

फिर असेम्बलीकी मेम्बरी कोई राजकुमारके बापका बैंक-बैलेंस नहीं कि वे लायक हों या निखट्टू वह मिलेगा उन्हें ही। अजीब बात है कि आदमी मौतके रथ तक भी पदोंकी अर्थीपर बैठा-बैठा ही जाना चाहे। हाँ, चाहा करे आदमी स्वर्गको मुट्ठीमें ले लेना, पर चाहनेसे होता क्या है। यह जनतन्त्रका युग है। अब पद-प्रतिष्ठा खानदानोंकी बपौती नहीं हो सकती। जी, वे दिन हवा हुए जब खलील खाँ फाख्ता उड़ाया करते थे। अब कुर-सियों पर आदमी आसमानसे नहीं उतरते; अब तो जनता जिसे चाहेगी धरतीसे उठाकर उनपर बैठा देगी।

और फिर वही भाग्यके इशारेकी बात, बाबू राजकुमारके बाद ही मेरा नम्बर है। उनके भाषणमें होता ही क्या है? वही ढाकके तीन पात; न जोशका उफान, न भावोंकी कोई कड़ी, न सरसता ही। उनके बोदे व्याख्यानके बाद में ऐसा भव्य भाषण दूँगा कि वे और सभा, दोनों ही गजकर्ण होकर सुनते रह जायेंगे!

सचाई यह है कि यह निमन्त्रण वसन्तोत्सवका नहीं, मेरे भाग्योत्सवका ही है।

फिर सभामें कोई आदमी सिर्फ़ भाषणसे ही नहीं जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है, तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है—बस चली की फिट और फिर देखिये तालियोंकी वो गड़गड़ाहटें, वो गड़गड़ाहटें कि बेचारे आसमानके कान काँप उठें।

और चाल भी क्या कोई शतरंज की चाल है कि घुटनेपर गाल रक्खे नवाब मफ़्तूँ सोचा करें सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट दाल; जी हाँ चट रोटी पट दाल—इधर तीर छूटा उधर शेर घायल !

लो राज बता दूँ, यह चाल कुछ मेरी अक़्लका कारण नहीं है, यह सतीश-की सूझका तोहफ़ा है। वह कविता-ववित्ता तो यों ही कुछ लिखता था, पर हाँ, कवि-सम्मेलनमें जमती उसीकी थी। अरे भाई, पब्लिक यानी जनताका दिमाग़ भेड़ियाधसान है—जिधर चले कि चले और न चले तो बस ठप्प। तो सतीश अपने साथ ८-१० चेले-चाँटे ले जाता और ज्यों ही वह कविता आरम्भ करता कि वे पुनः-पुनः साधु-साधु और वाह-अति सुन्दरके साथ तालियोंसे वातावरणको गुँजा देते और ऐसा समा बँधता, ऐसा समा बँधता कि क्या बताऊँ आपको कि दूसरोंके मोती रुले फिरते और उसके गिट्टे चमक उठते।

तभी तो कह रहा हूँ मैं कि सभामें कोई आदमी सिर्फ़ भाषणसे ही नहीं जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है एक तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है बस चली कि फिट और फिर देखिये तालियोंकी वो गड़गड़ाहटें, वो गड़गड़ाहटें कि बेचारे आसमानके कान भी काँप उठें और चाल भी क्या कोई शतरंजकी चाल है कि घुटनेपर गाल रक्खे नवाब मफ़्तूँ सोचा करें सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट

दाल, जी हाँ चट रोटी पट दाल—इधर तीर छूटा उधर और घायल।

तो भाषणकी सफलता निश्चित है और यह भी कि राजकुमार बाबूको साँप सूँघ जायगा, यानी मेरा वसन्त उनका बस अन्त ही है।

वसन्तोत्सव समीप आ रहा है और मैं भी पूरे जोरोंसे अपने भाषणकी तैयारी कर रहा हूँ। भाषण दे देना आसान है, पर मैं ऐसा भाषण देना चाहता हूँ कि प्रतिष्ठित पत्रोंमें उसके मुख्य अंश तो छपें ही, पर उसपर ज्यादा नहीं, तो २-४ में सम्पादकीय टिप्पणी भी जड़ी जाये।

यह कोई कठिन काम नहीं है। मैंने अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुषों द्वारा पढ़े गये कोई २०-२५ भाषण इकट्ठे कर लिये हैं और उनके चुने हुए अंश उनमेंसे काट लिये हैं। यह काफी कीमती मसाला है और हमारे सम्पादक लोग इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

और यदि इन भाषणोंको वे सम्पादक पहले पढ़ चुके हों और मेरे भाषणको चोरीका गुलदस्ता लिख दें, तो बस डूब गई नाव, यह बहुत बड़ा खतरा है, पर खतरेको दूरसे ताड़ लेना और बचाव बाँध रखना ही खिलाड़ीपन है।

मैं भी अनाड़ी नहीं हूँ। वैसे तो मैं कह सकता हूँ कि ये भाषण जिन लोगोंने पढ़े हैं, कुछ उनके भी लिखे नहीं हैं—भाषणोंमें तो विचारोंका आदान-प्रदान लेन-देन चलता ही है, पर मैं कच्ची गोलियाँ भला खेलूँ ही क्यों?

मैंने सब विचारोंकी भाषा बदल दी है—भाव अनूठे चाहिएँ, भाषा कोई होय। अब भाषा मेरी है और भाव भगवान्‌के। फिर भाषा और भाव दोनोंसे बढ़कर है व्याख्यानकी भाव-शृंखला। उसमें मैंने रातदिन मेहनत की है।

इस तरह व्याख्यानका मसाला तो तैयार है, पर प्रश्न यह है कि मैं उसे आरम्भ कहाँसे करूँ? मैंने देखा कि हमारे प्रदेशके प्रमुख वक्ता भाई

यशपाल सिंह अपना भाषण किसी शेरसे शुरू करते हैं और शेरके पढ़ते ही हजारों लोगोंके दिल उनकी मुट्ठीमें आ जाते हैं।

मैं चाहता हूँ कि कोई ऐसा शेर हो, जो लोगोंको तड़पा दे, बेचैन कर दे, मुग्ध कर दे, लोट-पोट करदे। इस कामके लिए मैंने कोई ५०-६० शेर इकट्ठे किये हैं, पर तै नहीं कर पा रहा हूँ कि किसे जमा दूँ।

बहुत सोच-विचारके बाद यह शेर मेरे दिलमें समाया है कि यह ऐसा जमेगा, ऐसा जमेगा कि न पूछिये—शेर क्या है, दिलोंका सीमेन्ट है—

असर कहते हैं जिसको,
वह खुदाकी देन है लेकिन—
इजाजत हो तो हम भी,
अर्ज कर लें दास्ताँ दिलकी।
अदब और दबाव, दोनोंका वाह क्या मिलान है।
इजाजत हो तो हम भी,
अर्ज कर लें दास्ताँ दिलकी।

शेर तो वाक़ई जोरदार है, पर एक बात है कि कुछ लोग शेरसे भाषणको शुरू करना जरा हल्कापन मानते हैं। तो फिर क्या करूँ ? हाँ, ठीक है, स्वामी रामानन्दजीके तरीक़ेसे काम लूँ कि व्याख्यानको किसी कहानीसे शुरू करूँ।

दृष्टांत-सागरमें अच्छी कहानियाँ हैं और दृष्टांत-समुच्चयमें भी, पर वे जरा पुराने-से ढंगकी हैं और कुछ गम्भीर भी हैं। मैं कोई ऐसी कहानी चाहता हूँ कि वह ऐसी चटपटी हो कि सुनते ही जनता उसमें उलझ जाय। तो फिर ह्यूएनत्सांगकी कहानी सबसे अच्छी रहेगी।

दक्षिण भारतसे एक आदमी उत्तर भारतमें आया। वह अपने पेटपर तांबेके पत्तर बाँधे रहता था और सिरपर जलती हुई मशाल। उससे

लोगोंने पूछा कि तुम ऐसा क्यों करते हो ? उसने उत्तर दिया कि मेरे पेटमें इतनी ज़्यादा अक़्ल है कि मैं पेटपर तांबेके पत्थर न बाँधूँ, तो मेरा पेट ही फट जाये और सिरपर मशाल इसलिए बाँधता हूँ कि मेरे चारों तरफ़ जो लोग हैं, वे अज्ञानके अन्धेरेमें भटक रहे हैं। मुझे उनपर दया आती है और मैं उन्हें यह रोशनी दिखाता हूँ।

ठीक है बस इससे ही आरम्भ करूँगा अपना व्याख्यान। बात यह है कि इससे दो लाभ एक साथ होंगे। बाबू राजकुमारपर तो यह चोट हो जायगी कि कुछ तुममें ही अक़्ल नहीं है, मुझमें भी है और जनताके लिए इसी बातको मोड़ दूँगा यों कि मुझे उस आदमीकी तरह अक़्लका बदहाजमा नहीं है, मैं तो आपका नम्र सेवक हूँ।

ख़ैर, भाषण मैंने ऐसा बाँध दिया है कि सुनते-सुनते लोग मुग्ध हो जाएँ और अधिक नहीं, तो २-४ सप्ताह तो नगरमें उसीकी चर्चा रहे, पर यह क्या बात है कि कल वसन्तोत्सव है और आज मेरा हृदय धक-धक कर रहा है। कलके उत्सवकी बात याद आते ही शरीरमें दौड़ता ख़ून जम-सा जाता है।

किसी सभामें भाषण देनेका यह मेरे लिए पहला दिन है, पर जैसे बातचीत, वैसा भाषण। बातचीत रुक-रुककर की जाती है और भाषण बिना रुके। फिर जब भाषण तैयार है और उसे मैंने क़रीब-क़रीब रट डाला है, तो इसमें चिन्ताकी क्या बात है—धड़ाधड़ बोलता चला जाऊँगा।

हाँ, बात तो ठीक है, बोलता चला जाऊँगा। अजी मैंने यहाँतक निशान लगा लिये हैं कि कहाँ जोशके साथ बोलना है और कहाँ धीमेसे, कहाँ अपनेको गम्भीर रखना है और कहाँ हँसना। असल बात यह है कि भाषणमें उतार-चढ़ाव बहुत ज़रूरी है।

हाँ, भाषणमें उतार-चढ़ाव बहुत ज़रूरी है, पर मेरे दिलमें यह उतार-

चढ़ाव क्यों हो रहा है। ऐसी घबराहट तो मुझे पहले कभी नहीं हुई। सभी मानते हैं कि मैं डरपोक नहीं हूँ।

फिर यह भी खतरा नहीं है कि भाषण बिगड़ जाय, क्योंकि पहले तो रट मारा है, फिर कई बार बागमें जाकर उसे दोहरा लिया है और आज तो मैंने उसके नोट्स भी ले लिये हैं। ऐसी तरकीबसे उस पर्चेको मेजपर रख लूँगा कि मुझे एकके बाद एक पैड़ी दिखाई देती रहे और किसीको इस सर्च लाइटका पता भी न रहे।

मैं समझता हूँ कि अब घबराहटकी कोई बात नहीं है।

हाँ, घबराहटकी क्या बात होती इसमें, पर थोड़ी-थोड़ी देरमें कलेजा जाने क्यों बाहरको आने लगता है। सोचता हूँ मंत्रीजीको एक पत्र भेज दूँ कि तार आगया है, एक सम्बन्धी बीमार हैं, बाहर जा रहा हूँ, बस झगड़ा टंटा खत्म। भाषणका क्या, ये तो आये दिन जल्से-उत्सव खड़े ही रहते हैं।

हाँ, यही ठीक है। कौन मुसीबतमें जान फाँसे। कहीं ऐसा न हो कि आये थे चौबेजी छबे बनने, पर रह गये दुबे ही, यानी आये थे बेचारे नमाज बखशवाने, रोजे गले पड़े।

बाहर जानेका फैसला कर लिया था, पर रात भावोकी माँ मिल गई। बुढ़िया टनटूमनमें मास्टर है। बोली—अरे, जबतक मैं हूँ, तुझे क्या फ़िकर, जेठे पूतकी अंगछी-टोपी दे दूँगी। जाते समय उसे जेबमें डाल लियो, बस फतह ही फतह है। चारों तरफ़ दुश्मन ही दुश्मन हों, तब भी सिक्का तेरा ही बैठेगा। मेरी बात झूठ निकले, तो चोरका हाल सो मेरा हाल !

गत्तर-तत्तर झाड़ा-फूँकी और टनटूमनमें अब लोगोंका विश्वास नहीं है, पर हमारे बड़े-बुजुर्ग क्या मूर्ख ही थे, जो इनमें विश्वास करते थे !

आखिर कोई तो बात है ही इनमें। कहते हैं पण्डित जयन्तीलाल

शिवाबली दिया करते थे, तो गीदड़ी आकर स्वयं बलिको खा जाती थी। गीदड़ी न आये, तो वे लाखका लोभ देनेपर भी अनुष्ठान हाथमें न लेते थे और साफ़ कह देते थे कि तेरा काम सिद्ध नहीं होगा।

आज ही वसन्तोत्सव है। तीसरे दिन मैं हजामत बनाता हूँ और आज उसका दिन नहीं था, फिर भी मैंने हजामत बनाई। बात यह है कि हजामत भी आदमीके व्यक्तित्वको चमकाती है और व्यक्तित्वकी चमक भाषणके जमनेमें मदद देती है।

मैं कभी शेरवानी और पाजामा पहनता हूँ, कभी बुशशर्ट-पतलून और कभी कुरता-धोती। मैंने सबको अलग-अलग पहनकर शीशा देखा और अन्तमें शेरवानी-अचकनको ही पास किया। इस वेशमें एक बड़प्पन है, संजीदगी है, शालीनता है।

हनुमानजीके दर्शन करने गया और उनके चरणका सिन्दूर छाती-पर लगाया। इससे काफी बल मिला और घर आकर सवा रुपया ताकमें रख दिया कि आज मेरा भाषण जम गया, तो रातको ही हनुमानजीका प्रसाद बाँटूँगा।

अपने कमरेमें लेटकर मैंने भाषण दोहराया, ठीक था, घबराहट भी आज कल जैसी नहीं थी और सफलता अब मेरे सामने थी। समयपर कपड़े पहन उत्सवमें चला, तो घरसे बाहर पैर रखते ही कहीं दूर शंख बजा।

मेरा मन विश्वाससे भर गया। यह शुभ शकुन था—मुझे लगा कि यह राजकुमार बाबूपर मेरी विजयका शंखनाद है। तांगेमें बैठे-बैठे मैंने मनमें कहा—हे सत्यनारायण स्वामी, आपकी कृपासे आज मुझे सफलता मिल जाय, तो मैं धूमधामसे आपकी कथा कहलवाऊँगा।

मैं ठीक समय जल्सेमें पहुँच गया। मन्त्रीजीने मेरा स्वागत किया। सच तो यह है कि सब मेरी ही ओर देख रहे थे और ठीक भी है कि उत्सवका

प्राण तो वक्ता ही होते हैं। फिर वक्ताओंमें दो तो पुराने-घिसे हुए थे और चार रंगरूट—आजका मुख्य वक्ता मैं ही था।

मैं कुरसीपर बैठ गया, पर मुझे फिर घबराहट उठी और मनमें आया कि उठ चलूँ, पर मैंने तभी जेबमें हाथ डालकर माधोकी माँके उस अक्षय कवचको छू लिया। इससे मुझे कुछ ताक़त मिली और तभी मैंने मन ही मन कहा—हे हनुमानजी महाराज, मुझे सफलता दो। मैं आज ही आपको सवाकी जगह अढ़ाई रुपयेका प्रसाद चढ़ाऊँगा।

प्रिंसिपल त्रिवेदी सभापति चुने गये, इसलिए बाबू राजकुमार एम० एल० ए० ही पहले वक्ता रहे। वे बोल रहे थे, पर मैं उनका भाषण सुन न रहा था। हाँ जी, भाषण मेरे कानोंमें पड़ रहा था, पर कलेजेमें उतर न रहा था। मैं शायद अपना भाषण सोच रहा था और शायद कुछ भी न सोच रहा था।

उनका भाषण ढीला रहा, यह मैं जरूर समझ पाया। उसमें एक भी बात नई न थी। सच यह है कि वे उन लोगोंमें हैं, जो मर जाते हैं और फिर भी साँस लेना बन्द नहीं करते।

अब मन्त्रीजी मेरा परिचय दे रहे थे। मैं अपनी कुरसीसे उठा, तो मुझे लगा कि मेरे पैर सो गये हैं। मैंने अपनेको सम्भाला और भाषणके नोट्सकी पर्ची बायें हाथमें ले ली। मेजके पास पहुँचते ही सभापतिजीने कहा—"आइये, कितनी देर बोलिएगा?" मैंने कहा—आधे घण्टेसे कुछ ज्यादा ही समझिये !" पर मुझे लगा कि मेरी आवाज कुछ बैठी हुई है। पिण्डलियाँ तो काँप ही रही थीं।

मैंने सभाकी ओर देखा—कोई दो हजार आँखें मुझे ही देख रही थीं। [illegible]—बस एक बड़ा घण्टा-सा [illegible] जा रहा है।

श्रीमान् सभापतिजी और भाइयो, मैंने कहा और तब मशालवालेकी कहानी आरम्भ की, पर जाने कैसे मेरे मुँहसे निकल पड़ा---मेरे सिरपर जलती मशाल बन्धी है।

बस जलसेके लोग हँस पड़े और लड़कोंने तालियाँ बजा दीं। मेरा रोम-रोम इस तरह खेल गया कि जैसे मुझपर ये कई सौ हण्टर एक साथ पड़े हों! मेरी आँखें बन्द हो गईं या उनमें अन्धेरा छा गया और जब वे खुलीं मैं पिछले कमरेमें लेटा था।

सब कुछ मुझे याद हो आया। जलसा चल रहा था, मैं चुपकेसे अपने घर आगया क्योंकि अब वहाँ बैठना तारकूल लगाकर शीशेमें मुँह देखना था। जीना अब मुझे बोझ था। बोझ उठाया जा सकता है, पर जिया तो अब नहीं जा सकता था। हाँ मुझे मर जाना है; और क्या मरना ही बाक़ी है। इस सारी घटनावलीके बाद श्यामनन्द बाबूने बताया कि मेरा सिर फटा जा रहा था। मुझे याद आई शारीडनकी गोली और, और शेरीडन---इंगलैण्डका राजनीतिज्ञ। वह जब पहली बार पार्ली-मेण्टमें बोला, तो घबरा गया। पत्रकारोंने उससे कहा---"कोई और काम कीजिये आप", पर जब वही वारेन हेस्टिंग्सके विरुद्ध पार्लमेण्टमें बोला, तो प्रसिद्ध वक्ता फाक्सने कहा---"ऐसा भाषण कामन्स सभामें आजतक कभी नहीं हुआ।"

मैंने सोचा-मैं मर जाऊँ? मेरे साहसने उत्तर दिया कि ना, मैं मरूँगा नहीं और अपने नये-नये प्रयत्नोंसे नई सफलता पाऊँगा और एक दिन शेरीडनकी तरह यशस्वी हूँगा।

उस बेवक़ूफ़ने जब मुझे दाद दी !

मेरी जन्मभूमिके एक सज्जनने उस दिन मुझसे अपनी बेटीके विवाह-का निमन्त्रण लिखवाया। वर्षभरमें दस-बीस-पचास निमन्त्रण लिखता ही हूँ, उनका भी लिख दिया।

इस बेटीके श्वसुर समयकी बात साहित्यिक रुचिके थे और पत्रोंमें मेरे लेख पढ़ चुके थे। वे जब बेटेकी बारात लेकर आये, तो स्नेहपूर्वक मेरे घर पधारे।

मैं उनके अनुरोधपर उनके पुत्रको आशीर्वाद देने गया और यों उनके साथ उनके घर जा पहुँचा, जिन्होंने मुझसे निमन्त्रण-पत्र लिखाया था !

जब उन्होंने जाना कि उनके संबंधी मेरे घर गये थे, तो मनमें माना कि उन्हें मेरी प्रशंसा करनी चाहिए और अपने सम्बन्धीकी ओर देखकर बोले—"लाला जी, हमारे पण्डितजी बड़े विद्वान् हैं, मुन्नीके विवाहकी चिट्ठी हमने इनसे ही लिखवाई थी। ये बहुत अच्छी चिट्ठी लिखते हैं।"

मैंने अनुभव किया कि सम्बन्धीजीको उनकी बात भली नहीं लगी और उनके जाते ही वे बोले—"बेवक़ूफ़ है !"

मैंने कहा—"आपके वे सम्बन्धी हैं, चाहे जो कहिये, पर मेरी लिखाई की तो दाद वे दे ही रहे थे।"

बोले—"बेवक़ूफ़की दादसे भगवान् बचाये !"

[illegible] पिताजीने एक संस्मरण सुनाया था। वह अनायास स्मृतिमें चमक उठा—एक [illegible]। अफ़सरीके सब दोषोंसे दूर और गुणोंसे भरपूर। उनकी अदालतमें दो भाइयोंका मुक़दमा आया, जिसमें चतुर छोटे भाईने, सरल बड़े भाईका सब कुछ दबा लिया था और अपमान भी किया था।

कालेरायने दूधका दूध और पानीका पानी कर दिया, तो फैसला सुन-कर बड़ा भाई भरी अदालतमें बोला—"अरे डिप्टी साहब, तेरा बाप भी गुसरा गधा ही था, जो तेरा नाम कालेराय रख दिया—तू तो पूरा धौले-राय है।"

पाँच-सात दिन बाद भाई ब्रह्मानन्द जी आ गये—शास्त्रीय संगीतके वर्चस्वी साधक। आचार्य जगदीशचन्द्रने कुछ मित्रोंसे चर्चा कर दी और दूसरे दिन एक प्रतिष्ठित बन्धुके यहाँ रातमें एक संगीत-गोष्ठीका आयो-जन हो गया।

समयपर हम लोग वहाँ पहुँचे, तो देखा कि नगरके कुछ शिक्षित बन्धु-ओंके साथ दुलारा सुनार भी बैठा है। दुलारेका गला अच्छा है और अपने यार-दोस्तोंमें गायक माना जाता है।

संगीतका उसे ज्ञान नहीं, ताल-स्वरका अता पता वह नहीं जानता, कुछ रसीली ग़ज़लें और गलेका लोच ही उसका आरकेस्ट्रा है, जिससे वह मित्रोंका मनोरंजन कर देता है।

सितारपर कलाकार ब्रह्मानन्दकी उंगलियाँ इठलाईं कि वागेश्वरीकी धुन झंकारपर थिरक उठी। बरसों बीत गये, पर लगता है आज भी वह धुन कानोंमें समाई है। ब्रह्मानन्दजीकी मुद्रा दर्शनीय थी; लगता था कि उनकी आत्मा सितारके तारोंमें समाधिस्थ हो गई है।

तभी कानोंमें एक सुई चुभ गई—"लो टुन-टुन तो सुन ली पण्डितजी, अब इनसे कुछ गाना-वाना सुनवाओ।" यह उस मनहूसकी आवाज़ थी, जिसके घरपर हम बैठे थे। मैंने कड़वी आँखोंसे उन्हें देखा, तो वे दबे। तभी फूटे कलाकारके बोल और बस जड़ तारोंकी धुनसे चैतन्य कण्ठका स्वर मिला, यों इठला उठा कि प्रकृति और पुरुषका युगल विहार कर रहा हो!

राग उठा, उभरा, इठलाया और अन्तरिक्षमें बिखरकर कलाकारके मानसमें समा गया। ब्रह्मानन्दके माथेपर सरदीकी उस ऋतुमें भी श्रम-मोती झलक आये, सितार उन्होंने रख दिया।

एक-दो बीमार गलोंसे मरी-सी वाह-वाह निकली और शेष सब शान्त रहे, शान्त क्या, वे भी थक गये थे—अपने अज्ञानसे, अज्ञानकी प्रतिक्रियासे !

तभी एक आवाज आई—"अच्छा साहब, अब दुलारेकी भी एक चीज हो जाय !"

"जरूर जरूर" यह मिला भरा पूरा समर्थन !

दुलारा संकोचसे दोहरा हो गया—"अजी, भला हंसके सामने काली चिड़ियाकी क्या बिसात, पण्डितजीसे ही एक और चीज सुनिये !"

वह खास संगीतज्ञ नहीं था, पर कनरसिया तो था ही; चीजको समझता था, पहचानता था !

तकाजेने जोर पकड़ा, दुलारेके सामने जगह हो गई और वह खँखार ही रहा था कि किसी स्वयम्भू निर्देशककी वाणी सुन पड़ी—'हाँ दुलारे, ऐसी हो कि कलेजा चीरती चली जाये !"

दुलारेके बोल खिले—

> उसने कहा तू कौन है, मैंने कहा शैदा तेरा !
> उसने कहा चाहता है क्या मैंने कहा सौदा तेरा !!

वाह-वाहसे कमरा गूंज गया और इस तरहके रिमार्क भी—क्या कहने ! शैदासे सौदा क्या मिलाया है !

ब्रह्मानन्दजीने एक राग और गाया, दुलारेकी एक गजल और हुई और गोष्ठी खत्म।

चलते-चलते एक सज्जन मेरे कानमें बोले—"तुम्हारे सितारजीको हमारे दुलारेने पहले ही दावमें उड़ा दिया पण्डितजी !"

मैंने आँख फाड़कर उधर देखा—यह बैल बी० ए०, एल-एल०-बी० था!

हम इस तरह चुपचाप घर पहुँचे और सो गये कि तीनों ही कहीं पिटकर आये हों, पर प्रातः उठे ही थे कि दुलारे आ पहुँचा। अंगोछेमें लपेटे फल उसने सामने रक्खे और ब्रह्मानन्दजीके पैर छूकर बोला—"इन लोगोंके भागसे हमारे कानोंमें भी कल आपके बोल पड़ गये। पण्डितजी, मैं रात भर नहीं सोया, आपकी आवाज मेरे भीतर गूँजती रही!"

मैंने उसे जरा गहराईमें उतारा—"लेकिन वहाँ रात गाना तो तुम्हारा ही जमा दुलारे भाई!"

दुलारेने आँखें बन्दकर दोनों हाथोंसे अपने कान पकड़े, जीभ बाहर निकाल दाँतोंमें दबाई और तब कहा—"राम राम, कहाँ गलीकी नाली, कहाँ मन्दिरका कलश; आप भी क्या बात कहते हैं!"

विद्वान् मूर्खोंके बाद, यह एक मूर्ख विद्वान्‌का सम्पर्क था।

दुलारे चला गया, तो मुझे लगा कि गन्दे कमरेमें झाड़ू देनेके बाद अभी-अभी मैं मुँह-हाथ धोकर उठा हूँ!

× × ×

तबकी बात है, जब दिल्लीमें लाल क़िलेके सामने लाजपतराय मार्केट नहीं था और वहाँ आम जलसे हुआ करते थे।

उस दिन रातमें उधरसे निकला, तो खुले आकाशके नीचे मुशायरा हो रहा था। जरीका चोगा पहने कोई नवाब साहब सदर थे। हजारों आदमी बैठे थे और हजारों खड़े; जैसे जलसेकी जी-जागती चारदीवारी हो यह!

मैं भी खड़ा हो गया और खड़ा होते ही मुझतक जो कुछ आया, वह किसी शायरकी तरन्नुमके लहरेसे तर आवाज न थी, केवड़ेके इत्रकी मदमस्त खुशबू से भरा हवाका हल्का झोंका था।

मेरे ठीक सामने एक नौजवान, चिनी हुई दुपल्ली टोपी और चिकनके कुरतेमें उनके कपड़े इत्रमें बसे थे या वे स्वयं, मैं नहीं कह सकता, पर उनसे वहाँका वातावरण महक रहा था, इसमें सन्देह नहीं।

तभी उन्होंने एक शेरपर बढ़कर दाद दी—"वाह, क्या शेर है; वल्लाह, ग़ालिब मरकर दुबारा ज़िंदा हो गया है!"

चौंककर मैंने उनकी तरफ़ देखा और तब—"इस शेरकी बारीक़ी क्या है भाई जान?"

बोले—"अरबी-फ़ारसी अल्फ़ाज (शब्दों) से शेर इस क़दर सक़ील (गरिष्ठ) हो गया है कि मानी गुम हैं!"

"तो फिर आपने दाद किस बातकी दी?" मैंने पूछा तो तुनककर बोले—"अजब बहूदानी (गधाँड़) सवाल है आपका; अरे मियाँ दाद देनेसे मुशायरेका समा बँधता है!"

तबतक शायर साहब अपना दूसरा शेर पूरा कर रहे थे। कुछ सुना, कुछ न सुना और पूरा-का-पूरा न समझा, पर मैंने उभरकर लम्बे हाथों दाद दी।

वे मेरी तरफ़ विजय भरी आँखोंसे देखकर बोले—"फ़रमाइये जनाब, दादसे समा बँधता है या नहीं?"

मैंने कहा—"बेशक!" और उन्होंने फ़ौरन मेरी तरफ़ पूरी तरह मुड़कर बड़े तपाकसे हाथ मिलाया और मुझे अपनी बराबरीमें ले लिया।

मैंने सोचा—मुशायरेका समा बँधे न बँधे, बातचीतका समा तो बँध ही गया!

× × ×

लोकजीवनमें एक कथा प्रचलित है कि वनकी यात्रामें एक ऋषिको एक अमृतफल मिला। इसे कोई बन्ध्या भी खा ले तो पुत्रवती हो। ऋषिने कृपालु हो, पासपड़ौसकी एक बन्ध्या जुलाहीको वह फल दे दिया।

हाथमें फल लेकर जुलाही बोली—"मेरे घरमें इस फलसे बेटा हो गया, तो तुम्हें गाढ़ेकी एक चादर दूँगी ऋषिजी!"

× × ×

उस दिन हम लोग एक कालेजके कवि-सम्मेलनमें गये। कवि-सम्मेलनके बाद चाय-पानी हुआ। श्री रतनलाल 'चातक' ने सभापतित्व किया था। कालेजके प्रिंसिपल उनसे बोले—"चातक जी, आप कविताको पढ़ते खूब हैं।"

चातकजी चूकनेवाले कहाँ? तड़ाकसे बोले—"जी हाँ, कवितामें तो कुछ होता नहीं, इसलिए गा-बजाकर ही आपको रिझा लेता हूँ!"

अट्टहाससे कमरा ऐसा गूँजा कि प्रिंसिपल साहब भक हो गये!

× × ×

हर बालका एक मास्टर पीस होता है; बस अब इस शृंखलाका मास्टर पीस सुन लीजिये।

बंगलौरके कांग्रेस-महासमिति-अधिवेशनमें प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरूको चारों खाने चित कर, पण्डित द्वारकाप्रसाद दिल्लीके तख्तका सपना देख रहे थे कि भाग्यका तख्ता उलट गया और वे मध्यप्रदेशकी अपनी मिनिस्टरी भी खो बैठे।

अतीतमें डा० खरे भी मध्यप्रदेशका मुख्यमन्त्रीपद, कुछ इसी तरह गलत चालके चक्करमें खो चुके थे, इसलिए डाक्टरने मिश्रको तारसे दाद दी, जो कुछ इस प्रकार थी—मुझे प्रसन्नता है कि तुम मेरे चरण-चिह्नों-पर चल रहे हो!

× × ×

व्यक्तिके असाधारण गुणोंको छोड़कर उसके साधारण गुणकी कभी दाद मत दीजिए।

उस बेवक़ूफ़ने जब मुझे दाद दी !

साधारण बातपर असाधारण दाद मत दीजिये,
असाधारण बातपर साधारण दाद मत दीजिये,
अपनेको स्वयं कभी दाद मत दीजिये,
सही यह भी कि हमेशा नपी-तुली दाद दीजिये,
सही स्थान पर और सही रूपमें दाद दीजिये;

और याद रखिये कि आपकी दाद एक तराज़ू है, जिसपर वही नहीं तुलता, जिसे आप देते हैं, आप भी तुल जाते हैं !

रहो खाट पर सोय !

"शामका यह सुहावना समय और तुम अपनी इस कोठरीमें पड़े किताब-के पन्ने चाट रहे हो। यह अजब बेवकूफ़ी है। उठो और ज़्यादा नहीं, तो कम-से-कम पासके ही पार्कमें घूमते-घामते नज़र आओ। आख़िर ऐसी भी क्या मनहूसियत है !"

"जी, शामका यह सुहावना समय और तुम खामखा मेरी कोठरीमें घुसे मेरे पुस्तक पढ़नेके आनन्दमें मूसलचन्द बन रहे हो। यह अजब बेवकूफ़ी है। उठो और ज़्यादा नहीं तो कमसे कम बाहरकी सड़कपर ही घूमते-फिरते नज़र आओ। आख़िर ऐसी भी क्या मनहूसियत है।"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक स्वास्थ्य-विज्ञानकी बात और तुम ले उड़े उसे मज़ाक़में और फिर मज़ाक़ भी ऐसा कि हमारी ही बात हमपर फिट कर रहे हो। यह अजीब मनमानी है तुम्हारी !"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक जीवन-विज्ञानकी बात और तुम ले उड़े उसे मज़ाक़में। अच्छा रहने दो अब और आगे नहीं कहता। वरना तुम कहोगे कि यह मेरी ही बात मुझपर फिट कर रहा है।"

"तो शामके समय अपनी कोठरीमें घुसकर खटियापर पड़े, पुस्तक पढ़कर स्वास्थ्य ख़राब करना भी एक जीवन-विज्ञान है; क्या अजीब मन-मानी है !"

"जी हाँ, शामके समय कोठरीमें घुसकर खटियापर पड़े पुस्तक पढ़ना भी जीवन-विज्ञान है, पर मैं यह स्वीकार करनेमें भी शरमाऊँगा नहीं कि यह

अधूरा जीवन-विज्ञान है और लीजिये तुम्हें नये प्रश्नोंकी मशक़्क़तसे बचानेको यह भी बता दूँ कि यह पूरा तब होता जब मैं यहाँ खटियापर पड़े पुस्तक पढ़ता नहीं, खुर्राटोंके साथ सोता तुम्हें मिलता।"

"वाह मेरे शेर, क्या छलांग मारी है तुमने कि शामके समय श्रीमान् जी सोते मिलते, तो जीवन-विज्ञान पूरा हो जाता। अरे मियाँ, यह क्यों नहीं कहते कि खटियापर मरे मिलते, तो जीवन-विज्ञानमें चार चाँद ही लग जाते !"

"इसमें न वाहकी जरूरत है, न आहकी; बात तो सिर्फ़ इतनी है कि तुम्हें हो गई है अक़्लकी बदहज़मी और मैं बात कर रहा हूँ अक़्लकी, जिसे तुम पचा नहीं सकते, पर खैर, अब मेरी कोठरीमें आ गये हो, तो तुम्हारी खोपड़ीमें भी यह जीवन-विज्ञान उतरना ही पड़ेगा।"

"कैसे ?"

"कैसे क्या था इसमें ? बस हकीम तुलसीदासकी हाजमेकी गोली देनी पड़ेगी तुम्हें; और जहाँ यह गोली तुमने ज़रा पपोली, चूसी कि तुम्हारे दिमाग़के किवाड़ इस तरह खुल जायेंगे जैसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे कभी संजयके खुल गये थे।"

"यह सब क्या छौंक लगा रहे हो तुम ?"

"छौंक-वौंक कुछ नहीं, बस गोली तैयार है और अब तुम भी तैयार हो जाओ। डरो मत, यह थी नाद थी नहीं है कि जागतोंको सुला दे, यह वो गोली है जनाब, कि सोतोंको जगा दे और जागतोंको चला दे।"

"तो फिर जो होगा देखा जायगा, चलाइये अपनी गोली, हम भी छाती खोले तैयार हैं।"

"जी, इस गोलीमें छाती खोलनेकी जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि तुलसीदासकी यह गोली सीधे [illegible] नहीं पहुँचती, कानोंकी राह छातीमें उतरती है।"

"तो यह बात है ?"

"जी हाँ, यह बात है, अच्छा तो कान खोल लो, वह गोली आ रही है और गोली क्या है संत तुलसीदासका ज्ञानामृत है कि "तुलसी भरोसे राम-के रहो खाटपर सोय।"

सुन लिया तुमने अजी, सुन लिया तुमने कि सन्त कवि तुलसीदास जी कमालकी बात है कि अक़्लके मामलेमें तुमसे दो इंच आगे ही हैं, जीवन-विज्ञानका यह सार कह गये हैं कि भाई, झगड़े-झमेलेमें मत पड़ो और आरामसे खाटपर पड़कर सोओ। अब बताओ कि अपनी कोठरीमें खाटपर पड़ा मैं उनकी बातका आधा पालन तो कर ही रहा हूँ, फिर तुम इस तरह क्यों चिचिया रहे हो कि जैसे मैंने किसीकी जेब काट ली हो और तुम कोई पुलिस इन्सपेक्टर हो!"

"भई, यह तो तुमने गजबकी गोली खिलाई और इससे बातकी दिमाग के किवाड़ खुले जा रहे हैं, पर यह तो बताओ कि सचमुच यह तुलसीदासके दवाखानेकी है या भले आदमी, घरमें घोटकर उनका लेबिल लगा दिया है तुमने। आजकल यह मर्ज़ पूरी तरह बढ़ रहा है; कहीं नक़लकी इस मार्के-टमें तुम भी तो नहीं आ गये?"

"जी नहीं, यह सौ-टका तुलसीदासकी गोली है और देखते नहीं आप कि ऐसा विशाल अनुभव और है ही किसे, जो एक लाइनमें सारी गीता कह दे?"

"अच्छा जी! तो इस लाइनमें सारी गीता कह दी गई है? भाई, सच बात यह है कि तुम्हारी गोलीसे हमारे दिमागके किवाड़ तो खुल गये हैं पर कमरा अभी खाली ही है।"

"घबराओ मत भाई जान, जब कमरा खुल गया है, तो उसमें ज्ञान-पुरुषका पदार्पण भी होनेवाला ही है, और जी, होनेवाला क्या है, हो ही रहा

है। तुलसीदासके इस हिन्दी वचनपर उर्दूके एक ज्ञानीने अपना प्रवचन किया है। इसे तुम सुनो तो शायद सब कुछ ही पा जाओ। वह कहता है—

"एहसाने नाख़ुदाका उठाए मेरी बला !
किश्ती ख़ुदा पे छोड़ दूँ लंगरको तोड़ दूँ !"

कुछ आया तुम्हारी समझमें या अब भी नासमझीका ही दौर-दौरा है? हाँ, तो लो अब तुम्हें अ आ इ ई की तरह ही पढ़ाना पड़ेगा। अरे भाई, लगन-मुहूर्त देखभाल कर, साफ़-सुथरी मजबूत नावमें बैठकर, अच्छे मौसममें मल्लाहकी मददसे पार उतर जाना मामूली बात है और यह कोई भी कर सकता है। इस मामूलीसे ऊपर एक गैर मामूली-असाधारण बात यह है कि आदमी मल्लाहका भरोसा न करके अपनी ही ताक़तका भरोसा करे और पार उतर जाये, पर यह ज्ञानी कहता है कि यह भी एक घटिया बात है, असली बात तो यह है कि मल्लाहसे बात न करे, नावके बारेमें सोचना बन्द कर दे और नावको पानीमें उतारकर उसमें सो रहे; बस यही तुलसीदासका वचन "तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय"; यानी खाट न सही, नाव सही, तुम खुर्राटोंका मज़ा लो; डोलती-हिचकोलती नाव अपने आप किनारे लगेगी और लगेगी क्या यों ही, लगायेगा लगानेवाला !"

"और क्यों जी, जो लगानेवाला न लगाये नावको पार और मझधारमें कर दे, डुबक-डुबक, डुम-डुम, तो क्या हो? बस करो बेटा, पाताल लोककी सैर! यह वचन भी खूब रहा और उसका प्रवचन भी खूब रहा, मतलब यह कि चढ़ जा बेटा शूलीपर राम भला करेगा। अरे भाई, राम क्या भला करेगा, तेरे प्राण-पखेरू फुर्र हो जायेंगे। भूख अपने पेटमें और रोटी दूसरेके हाथ; उसने समयपर टुकड़ा दिया, दिया, न दिया, न दिया। अच्छा, यह भी कोई बात हुई !"

"दिया किस तरह नहीं ? दिया और इस तरह दिया कि लेनेवालेका सिर ऊँचा रहा। हमारे देशके एक-दो नहीं, अनेक भगत गा गये हैं कि—

'होंगे दयाल तो देंगे बुलायके !
लेने कौन जायेगा, देंगे घर आयके !!

घर आकर देना, कोई कल्पना नहीं है, मेरे भाई, ख्याली पुलाव भी यह नहीं है। हाँ, यों कह सकते हो कि यह जीवनका एक चमत्कार है। फिर यह चमत्कार कोई सन्तोंकी ही बपौती नहीं, मेरे जैसे साधारण मनुष्यने भी अपने जीवनमें यह चमत्कार देखे हैं। युगपुरुष गान्धीजीने कहा था कि जहाँ सत्य होता है, वहाँ चमत्कार भी होते हैं।

अब कहो, तुलसीदासका वचन, जीवन-विज्ञानका अमृत है या नहीं ? यह अमृत मनुष्यको भिखारी होनेसे रोक देता है और उसे अपनी आँखोंमें हीन नहीं होने देता। यही नहीं, उसमें एक ऐसी बेफ़िक्री पैदा कर देता है कि फ़िक्र, प्यास, तृष्णा, ईर्ष्या, मानसिक हीनता और इसी तरहके दूसरे दोष उसके पास नहीं फटक पाते। उसमें स्वाभिमान इस सीमातक उत्पन्न हो जाता है कि माँगते ही मिल जानेका अखंड विश्वास होनेपर भी वह किसीसे नहीं माँगता और साफ़ कह देता है—

'यह गवारा न किया,
दिलने कि माँगूँ तो मिले।
वरना साक़ीको,
पिलानेमें कुछ इन्कार न था।'

हाँ, बिना माँगे ही उसकी ज़रूरत पूरी हो जाती है और जीवनमें कभी ऐसा अवसर भी आता है कि वह प्यासा ही रह जाये, उसे कुछ न मिले,

तब भी उसे दुख नहीं होता कि मुझे यह मनचाही चीज क्यों न मिली। तब भी वह तुलसीदासकी बात मानकर अपनी खाटपर खुर्राटे खेंचता रहता है; क्योंकि उसका विश्वास उससे कहता है कि तेरी माँगमें—तेरी चाहमें ही कहीं कुछ भूल है और वह अपने रामसे कह उठता है—

'तेरे करममें कभी कुछ नहीं, करीम है तू,
कुसूर मेरा है, झूठा उम्मीदवार हूँ मैं!'

इसका एक नमूना मैं अपनी आँखों देख चुका हूँ और तबसे 'रहो खाट-पर सोय' की फ़िलासफ़ीमें मेरा तो अखंड विश्वास हो गया है।

मेरे एक मित्र अपने लिए एक मकान चाहते थे। उन्हें सचमुच मकानकी ज़रूरत थी और उसे सभी मानते थे। बहुत दिनोंके बाद एक मकान उनके नाम अलाट हो गया, पर तभी कुछ लोगोंने उसमें अड़ंगा लगा दिया। वे लोग इतने धूर्त थे कि वह सरल मित्र उसमें उलझ गया और मकान न पा सका। मित्रको मकान तो मिला ही नहीं, उनकी बेइज़्ज़ती भी हुई, क्योंकि मकानके मामलेको प्रतिष्ठाका प्रश्न बना दिया गया था, पर वे अब भी शान्त थे। उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। उन्होंने कहा—मकान मुझे मिलना चाहिए था, यह ठीक है और उसका न मिलना अन्याय है, यह भी ठीक है, पर भगवान् जाने इसीमें मेरा हित हो!

हम सबने कहा—"यह सब तो मजबूरीका सन्तोष है भाई साहब।" पर वे मुसकराते रहे। बादमें एक दिन हमने सुना कि बरसातमें उस मकानकी एक छत गिर गई और कई आदमी उसमें दबकर मर गये। उन्होंने हम सबसे कहा—"कहो, मकान न मिलनेमें ही हित निकला या नहीं?" सचमुच वह मकान उन्हें मिला होता तो, आज हम समाचार सुननेकी जगह एक मर्मभेदी दृश्य देखते!"

"सचमुच भैया, तुम्हारे तुलसीदासकी यह स्लाट-फिलासफी तो एक बड़े कामकी बात मालूम होती है।"

"बड़े कामकी ? अजी, इससे भी बढ़कर बड़े-बड़े कामोंकी है यह बात भाई साहब ! लो एक लोक-कथा सुनाता हूँ तुम्हें, जिसे गल्प तुलसीके तत्त्वज्ञानकी बस व्याख्या ही समझो।"

एक राजा था। एक उसका वजीर था। वजीर हर बातमें कहा करता 'अच्छा ही हुआ।' राजाका बेटा एक दिन अपना पहला शिकार खेलने गया। वहाँ शेरने पंजा मार कर उसका दाहिना अंगूठा उड़ा दिया। जब दरबारमें उसका जिक्र हुआ, तो वजीर बोला—'अच्छा ही हुआ।' राजाको गुस्सा आ गया। राजाने कहा—'जा निकल जा, मेरे राजसे।' वजीरने कहा—अच्छा ही हुआ और वह दूर चला गया। कुछ दिन बाद भील लोग उस राजकुमारको उठा ले गये और एक खम्भेसे बाँधकर उसे कालो माईकी बली देने लगे। जब भीलोंका गुरु राजकुमारके गलेपर छुरा रखने लगा, तो उसने वो कटा हुआ अंगूठा देखा। चिल्लाकर गुरु बोला—"छोड़ दो इसे, यह तो खंडित है।" राजकुमार छूटकर घर आया, तो राजाने कहा—देखो, उस दिन वजीरने ठीक ही कहा था कि अच्छा ही हुआ। राजाने आदर-मानके साथ वजीरको बुलाकर उसे फिरसे ओहदा दिया।

क्या तत्त्व है इस लोक-कथाका ? बस यही कि आदमी नहीं जानता कि किसमें भला है, किसमें बुरा है। और बात यह है कि आदमी सिर्फ आजको देखता है, कलको नहीं; पर अनुभव यह है कि आजकी बुराईमें कभी-कभी कलकी भलाई छिपी रहती है। कटे अंगूठेने ही राजकुमारकी जान बचाई या नहीं ?

तो भाई साहब, आजसे तुम भी हमारे गुरु तुलसीदासके चेलोंमें अपना

नाम लिखा लो और यह गुरुमन्त्र कंठ कर लो—"तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय" ! फिर सुन लो एक बार यह गुरु-मन्त्र "तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय" और लो, अब साफ़-साफ़ कहो कि अब तो हमारे गुरु-भाई बननेमें तुम्हें कोई ऐतराज़ नहीं है ?"

"क्या बताऊँ मेरे दोस्त, सचाई यह है कि तुम्हारी यह बात तो मेरी भी खोपड़ीमें बैठती जा रही है, पर सच बताओ, इसे माननेमें कोई खतरा तो नहीं है ?"

"खतरा ? खतरा इसमें बहुत बड़ा है ।"

"खतरा इसमें बहुत बड़ा है ?"

"हाँ इतना बड़ा कि आदमीको जीतेजी मुर्दा बना दे। लो सुनो, तुम्हें इसका अन्धेरा कोना भी दिखाता हूँ। आदमी अगर राम भरोसे नहीं आलस्यके सहारे खाटपर पड़ सोये, तो ऐहदी हो जाता है और ऐहदीपन आदमीकी पराजय है, कोई विजय नहीं !

राम भरोसे खाटपर सोनेका मर्म भी लो, चलते-चलाते तुम्हें बता दूँ। यह मर्म है आदमीका यह विश्वास कि बुरा तो कभी हो ही नहीं सकता, सब कुछ भला ही भला है। अब वह कर्मोंके फलकी चिन्तासे ही नहीं, प्रभावसे भी बच जाता है। अब तो वह एक यात्री है,जिसे अपनी राह चले चलना है। बस बिना रुके, बिना झुके, चले ही चलना है; यानी उसकी नजर इसपर नहीं कि जीवनमें मुझे क्या मिला और क्या नहीं। बस, उसके देखने-सोचनेकी सीमा तो यह है कि मैं जिया किस तरह—मेरे जीनेमें कोई खोट तो नहीं, कोई कमी तो नहीं, कोई कुरूपता तो नहीं।"

जब मैंने नया पोस्टर पढ़ा !

आज बाहरसे आया, तो देखा प्रेसके बाहर जो नया पेशाब-घर बनाया गया है, उसकी दीवारपर छपे हुए २-३ कागज लगे हैं। छपाई साफ़ थी। दूरसे ही पढ़ा—

यह पेशाबघर केवल प्रेसके कर्मचारियोंके लिए है।

बार-बार मैंने उसे देखा और बार-बार उसे पढ़ा। देखते-देखते ही कुछ क्षणमें मुझे लगा कि यह पोस्टर मेरे कलेजेपर चिपका है, दीवारपर नहीं और उससे मेरे फेफड़े ठीक काम नहीं कर पा रहे हैं।

सीधे मैं प्रेसमें गया और पूछा कि यह पोस्टर किसने तैयार किया है ?

मेरे पुत्र अखिलेशजी बैठे थे। बोले—तैयार तो मैंने ही किया है।

अपनी बातको उपदेशकी कोटिमें जानेसे रोकनेको मैं ज़ोरसे हँस पड़ा, और वातावरण जब मुलायम हो गया, तो मैंने कहा—"क्यों भाई, बहुतसे लोगोंने दूसरोंके आरामके लिए धर्मशालाएँ बनवा दीं, कुछने कुएँ खुदवा दिये, पर तुम्हें यह भी स्वीकार नहीं कि तुम्हारे पेशाबघरमें आते-जाते लोग अपनी ज़रूरत पूरी कर लें, जबकि इससे तुम्हारा न एक पाई खर्च बढ़ता है, न काम रुकता है, न कोई दूसरा ही नुकसान होता है।" अखिलेशजी उठे और उन्होंने तुरन्त वह पोस्टर दीवारसे खुरच दिया और यों यह पोस्टर-काण्ड समाप्त हो गया।

अब मैं अपनी कोठरीमें हूँ और देख रहा हूँ कि वह पोस्टर दीवारसे उतरकर भी मेरी खोपड़ीके भीतर चिपका है। फिर जब दाँतोंमें तिनका है, तो जीभ कैसे चुप बैठे और खोपड़ीमें खुरचन है, तो फिर मेरा कहा मानकर वह मेरे काममें कैसे लगे ?

अच्छा, तो क्या है जी, वह खुरचन,

खुरचन यह है कि आखिर किसीके दिमागमें यह पोस्टर लगानेकी बात उपजी ही क्यों ?

सोचते-सोचते ध्यान आया कि अखिलेशजीके घरके सामने ही स्टेट बैंक है और उसके पेशाबघरकी दीवारपर लिखा है—

"सिर्फ बैंक कर्मचारियोंके लिए।"

बस, कुञ्जी हाथ आ गई कि बैंकके उस नोटिसको आते-जाते अखिलेश-जी देखते रहे और भीतर ही भीतर उसकी छाप उनके मनपर पड़ती रही और यों एक दिन यह पोस्टर तैयार हो गया।

सहसा मेरे मनमें आया कि यह घटना विज्ञापनके महत्त्वपर कितना पैना प्रकाश डालती है। एक ही बात बार बार सुनते-देखते मनपर एक संस्कार बन जाता है और वह संस्कार तब हमारे कार्यका संचालन करता है। चायका प्रचार भी विज्ञापनके सहारे हमारे देखते-देखते हो गया और सिग-रेटका पहले हो गया था। सिनेमाके हर खेलके लिए जो विज्ञापन होता है, वह हम देखते ही हैं।

मेरे मनमें एक सुई-सी चुभी—बुरी चीजको आवश्यक बतानेके लिए, जब इतने विज्ञापनकी आवश्यकता है, तो अच्छी चीजको; बुरोंके मनमें अभी जिसकी माँग नहीं है, आवश्यक बनानेके लिए कितने विज्ञापन और प्रचारकी आवश्यकता है ! पंडित नेहरूकी चीन यात्रासे लौटनेपर उनकी पुत्री श्रीमती इंदिरा गाँधीने एक पत्रकारसे कहा कि "मुझे चीनकी सबसे बड़ी विशेषता यह लगी कि वहाँके लोगोंमें अपने देशकी शक्ति बढ़ा-नेके लिए अत्युत्साह है।"

पत्रकारने तीव्र ही पूछा कि इस उत्साहका स्रोत क्या है ? जन-जनमें यह उत्साह कैसे पैदा हुआ ?

उत्तर मिला—"इसका एक मुख्य कारण है निरन्तर प्रचार।"

इस प्रचारका उन्होंने एक बहुत ही सूक्ष्म उदाहरण दिया कि बिल्कुल छोटे बच्चोंमें सामूहिक जीवनके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेके लिए किस प्रकारकी कहानियाँ सुनाई जाती हैं, उसका एक नमूना यह है :—

कुछ चिड़ियें एक साथ उड़ी जा रही थीं। एक चिड़िया पीछे रह गई और खो गई। उसकी मददके लिए दूसरी चिड़ियें आई और उन्होंने उसे परेशानीसे बचा लिया।

मेरे भीतर निरन्तर जागते प्रचारकको नई स्फुरणा मिली, पर मेरे प्रचारकके हाथ-पैर भले ही प्रचारकके हों, उसकी आत्मा विचारककी है। वह भले ही सफलताकी चाह करे, खोज तो उसकी सत्यके लिए ही होती है।

प्रचारकसे आगे होते विचारक उद्बुद्ध हुआ —मेरे पैसेवाले हों या फिर विचार पैसे वाले, उनके मनमें यह कामना क्यों उठती है कि उनकी वस्तुका कोई दूसरा उपयोग न करे ?

हरेक अपने धन-वैभवपर, अपने मकानपर, सामानपर अपना ही कब्जा चाहता है और उसे यह गवारा नहीं कि उनपर कोई दूसरा हाथ रखे, पर अपनी कोई हानि नहीं और दूसरोंको लाभ, इस सौदेमें भी आदमी क्यों कृपण हो ?

प्रश्नका उत्तर तुरन्त न मिला, तो मन उसकी खोजमें निकल पड़ा और जा पहुंचा श्रीरामचन्द्र शर्मा 'महारथी'के घर। शर्माजीका घर जाने कितने मित्रोंकी धर्मशाला रहा है, पर उस दिन उनके जीनेसे चढ़ा, तो देखा कि उनके शौचालयपर एक ताला लगा है। सोचा-घरका द्वार खुला है और शौचालयपर ताला लगा है, यह एक अजीब नक्शा है।

बातों-बातोंमें बच्चोंको टटोला, तो पता चला कि आस-पासके लोग रात-अंधेरेमें घुस आते हैं। सोचा कि यह बात बुरी है, पर सोचा कि इसमें बुराई क्या है ? शौचालय फ्लशका है, इसलिए आस-पासके लोग सभ्य-

अतः जिन्हें अपने शौचालय सुलभ नहीं हैं, किसी पड़ौसीके शौचालयका उपयोग कर लें, तो क्या यह कोई दुरुपयोग हुआ ?

नहीं, यह दुरुपयोग नहीं है और मनमें आया कि निश्चय ही यह शर्मा-जीकी अनुदारता है। अनुदारता, संकीर्णता और असद्भावनाके वातावर-णमें मेरा साँस घुटता है, सो घुटता रहा और मुझे यह भी सोचना पड़ा कि भविष्यमें मैं यहाँ नहीं ठहरूँगा, पर दूसरे दिन प्रातः सोकर उठा, तो मैं ही सबसे पहले उठनेवाला था और इस प्रकार मैं ही सबसे पहले शौचालयमें गया। ताला उसपर नहीं था—मेरे मित्रने मेरी वृत्ति जान उसे हटा दिया था, पर किवाड़ खोलते ही मैं सन्न हो गया। शर्माजी सफ़ाई-पसन्द आदमी हैं, स्वयं सफ़ाई करनेमें विश्वास रखते हैं, इसलिए हमेशा उनका शौचालय भी नन्दन-लोक रहता है, पर आज तो वह पूरा नरक था—उसकी कुण्डीमें तो मल भरा ही था, चारों ओर भी गन्दगीके टीले थे !!

मनमें गुस्सा आया, गलेमें गालियाँ उभरीं और सोचा—इन आद-मियोंमें और कुत्तोंमें क्या अन्तर है और शर्माजी ताला लगाकर इनसे बचते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ?

नल चलाया, सफ़ाई की, तब कुण्डी पर बैठा और सोचने लगा कि जो शौचालयका उपयोग करे, वह उसकी स्वच्छतामें भी अपना हिस्सा दे, यह सुबोध व्यवस्था है, पर आनेवाला अबोध हो और स्वच्छतामें भाग न ले, तो उसके बाद आनेवाला सुबोध उसके भागको पूरा करनेमें झल्लाये क्यों और भविष्यके लिए ताला लगाकर उसका प्रवेश भी क्यों रोके ? वह सुबोध है, तो अपनी सुबोधता क्यों छोड़े ?

एक बार फिर तालेके विरुद्ध मन विद्रोही हो उठा, पर तभी समन्वय-की सृष्टि हुई कि कोई सुबोध इस स्थितिमें भी उदार रहे, तो वह निश्चय ही आदर्श है, प्रशंसनीय है, [illegible] हमारा जीवन-

व्यवहार ऐसा रहे कि उससे दूसरेके जीवनकी उदारता मुरझाये, संकुचित या नष्ट न हो।

आज जो अनुदार हैं, कृपण हैं, संकीर्ण हैं, कल निश्चय ही उनमेंसे अधिकांश उदार रहे होंगे और दूसरोंके व्यवहारोंने ही उनकी उदारतापर ताला लगाया होगा, पर यह कितनी विचित्र बात है कि वे दूसरे ही अब उस अनुदारतापर भाषण देनेमें सबसे अग्रणी हैं।

भाई बालकृष्ण अरोड़ा याद आ गये मुझे। उस दिन बातों-बातोंमें उन्होंने अपने एक मित्रका संस्मरण सुनाया, जिसने उनके साथ बार-बार विश्वासघात किया। अन्तमें कहने लगे—पहले कोई मिलता था, तो मैं मान लेता था कि यह सज्जन है, जबतक कि अपने व्यवहारसे अपनेको दुर्जन सिद्ध न कर दे, पर कोई अब मिलता है, तो मान लेता हूँ कि यह दुर्जन है, जबतक कि अपनेको यह अपने व्यवहारसे सज्जन सिद्ध न कर दे। इस परिवर्तनके लिए उत्तरदायी कौन है?

एक दूसरे मित्र हैं। पहले सबके कामके लिए तैयार रहते थे। फौजदारीके मुकदमेमें एक मित्रकी जमानत की, महीनों घिसे फिरे। तबसे ऐसे चौकन्ने हो गये हैं कि पुट्ठेपर हाथ ही नहीं रखने देते और जिन्होंने उन्हें ऐसा बनाया है, वे ही सब जोरसे कहते हैं—बहुत दिमाग हो गया है अब।

मैं कभी ताले कुंजीमें विश्वास न रखता था। उस दिन मैं ज़रा सो गया कि वह बालक आया और चुपचाप जेबमें हाथ डाल सब रुपये निकाल ले गया। दूसरे दिन मैं सो गया, तो आप ही आप बिना सोचे दरवाजा बन्द कर गया—बाहर न सही, अन्तर चेतनामें तो घटनाका प्रभाव था ही!

विश्वासघात, तभी शायद सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि यह समाजके सर्वोत्तम गुण—सहज विश्वासपर डाका डालता है। हम इससे बचें और यों भलोंको बुरा बनानेका काम न करें।

अजी, क्या रक्खा है इन बातों में !

देखिये, आप जानते हैं मैं एक पत्रकार हूँ। वैसे तो गली-गली पत्रकार हैं और ऐसे पत्रकार कि क्या बताऊँ आपको कि न उनका सम्बन्ध है किसी पत्रसे और न वास्ता कारसे, पर हैं वे इतने बड़े पत्रकार कि उनके लैटर पेपरपर भी यह छपा है और घरके बाहरके छोटे बोर्डपर भी।

बहुतसे साथी हैं कि उन बेचारोंकी मज़ाक उड़ाते हैं। शायद आप भी उनमें हों और बहुतसे साथी हैं कि उन्हें ताने देते हैं, उनपर नाराज़ होते हैं, उनसे कुढ़ते हैं, पर मुझे न ताने सूझते हैं, न झुँझलाहट आती है।

देख रहा हूँ कि आपके चेहरेपर जो नाक है, वह ज़रा सिकुड़ गई है और इससे आपका पूरा चेहरा ही एक प्रश्नचिह्न बन गया है। साफ़ है कि आपके गले मेरी बात नहीं उतर रही है, पर आप तो जानते ही हैं कि मैं एक पत्रकार हूँ और मेरा काम ही बातोंको गले उतारना है, तो मैं आपके प्रश्नका समाधान अवश्य करूँगा।

और फिर समाधान क्या था इसमें ? यह न कोई दर्शनकी गुत्थी है, न राजनीतिकी समस्या, बातोंकी बात है और बातका और मट्ठेका बढ़ाना क्या, घटाना क्या ? अरे भाई, बात तो सिर्फ़ इतनी है कि वे कहते हैं हम पत्र-कार हैं और मैं कहता हूँ कि बधाई आपको कि आप बेकार तो नहीं हैं, कुछ न कुछ कार हैं। अब आप ही बताइये कि इस हालतमें ताने, नाराज़ी और कुढ़नकी गुंजाइश ही कहाँ है ?

जी, देखिये, कुढ़नकी इसमें गुंजाइश नहीं है, पर इसमें यह गुंजाइश भी नहीं है, कि आप मुझे भी ऐसा ही पत्रकार समझ बैठें। मैं पत्रकार हूँ, यानी सम्पादक हूँ अपने पत्रका।

यह लीजिये वह आ रहा है सामनेसे अपना फ़ोरमैन। लोग समझते

है, जाने क्या होता है सम्पादक, पर यहाँ न पन्ने पूरा करनेमें हो जाता है भ्रम। हाँ जी, भ्रम ही है और क्या कि लगने लगता है, जैसे भीतर न खून रहा हो न रंग, बस सूखा-सूखा और रूखा-रूखा।

"क्या बात है भाई खैरातीलाल ?"

"बात यही है कि अग्रलेख अभी तक नहीं मिला और साप्ताहिक लेट हो रहा है। अब शामके ६ बजे हैं। नोट कर लीजिये कि आपने रातमें नौ बजेतक अग्रलेख न दिया, तो कल पत्र नहीं निकलेगा और यह भी नोट लीजिये सम्पादक जी, कि कलकी जगह वह परसों डाकमें पड़ा, तो समझो सब बैरंग हो जायेगा। गंगाभरजी तो और तरहके पोस्ट मास्टर थे। वे देर-सबेर भी ले लेते थे, पर यह जो अब नये आये हैं, बस घड़ीकी सुई और कलेण्डरकी तारीख देखकर काम करते हैं। मैंने सब बातें आपसे कह दी हैं, अब आप जानें और आपका काम। तो नौ बजे भेज दूँ सोहन या किशनको भीतर लेने ?"

"हाँ, हाँ जरूर भेज देना। मुँह-हाथ धोकर चायका प्याला पिये अब बैठता हूँ मेजपर। तुम ९ क्या ८॥ बजे ही भेजा देना लेख।"

खैरातीलाल चला गया और मैं अब मेजपर जा रहा हूँ। श्रीमतीजीने मुझे गरम-गरम चाय पिला दी है और मूड ऐसी ताजगीवाला हो रहा है कि कोई दिमागमें हाथ डालकर चाहे, तो पूराका पूरा अग्रलेख निकाल ले। लेख क्या है भारतकी चहुँमुखी प्रगतिको देखनेके लिए एक नया चश्मा ही है।

जी हाँ, एक नया चश्मा। बात यह है कि आँख कमजोर हो, तो उसे साफ नहीं दीखता, पर चश्मा लगा लो, तो जोत जाग जाती है। सदियोंकी गुलामीमें भारतकी आँखें कमजोर हो गई हैं, इसलिए स्वतन्त्र भारतमें जो कुछ हुआ—हो रहा है, उसे हम समझ नहीं पाते। हमारी आँखें तरक्की देखनेकी आदी हो गई हैं, पर स्वतन्त्र भारत कर रहा है उन्नति।

मेरे अग्रलेखके चश्मेसे यह उन्नति साफ़ दिखाई दे जायगी।

"वाह भाई वाह, यह तरक्की और उन्नतिकी धुरपट ख़ूब रही। अरे भाई, जो ख़ुदा वही ईश्वर और जो ईश्वर वही गौड; भले आदमी, इनमें भी भला क्या भेद ? और जो भेद इनमें नहीं, वह तरक्की और उन्नतिमें कहाँसे आ घुसा ?"

है न यही बात आपके मनमें, पर कहूँ एक बात; बुरा न मानियेगा, आपकी बात बस बातोंकी बात है, यानी बेबातकी बात। उसमें न जान है न मान—एकदम पोपली। भाई मेरे, तरक्की और उन्नतिमें बहुत फ़र्क़ है। बहुत अन्तर है। लीजिये पहले मेरा चश्मा आप ही लगाइये। तरक्की है भौतिक समृद्धि, बाहरी सुख-साधनोंकी वृद्धि और उन्नति है मानसिक समृद्धि, किसी ऊँचे उद्देश्यके साथ जीवनकी आन्तरिक प्रवृत्तियोंका जुड़ जाना।

मालूम होता है साफ़-साफ़ ही कहना पड़ेगा आपसे। स्वतन्त्र भारतने बाँधों, योजनाओं, कारख़ानों, भवनोंके निर्माणकी दिशामें जो वृद्धि की है, वह तरक्की है और एक ईमानदार शान्ति-दूतके रूपमें जो कार्य किया है, वह है उन्नति—प्राचीनकी भाषामें एक है अभ्युदय और दूसरा है निःश्रेयस। कहिये, है न नया चश्मा ?

तो अग्रलेख मेरा तैयार है मेरे मस्तिष्कमें, पर मेरा पत्र तो मस्तिष्क-पर नहीं, काग़ज़पर छपता है और इसलिए अपना लेख भी मुझे काग़ज़पर उतारना है। लो लीजिये, यह जम गया मैं और यह लिखा शीर्षक। बस अब फ़र्र—फ़र्र।

यह कौन चला आ रहा है मेरे कमरेकी तरफ़ ? इन लोगोंके लिए न समय है न असमय; जब देखा उड़ लिये हवाके झोंके-से। ओह, रामचरणजी हैं।

"ओहो ! तो सम्पादकजी अभी अपनी कुर्सीपर ही जोग साध रहे

हैं। अरे भाई, चमगादड़ और उल्लू दुनियाके सबसे मनहूस जीव हैं, पर इस समय तो उनके परों और पैरोंमें भी चाल आ गई, पर तुम्हारा पहिया ऐसा जाम हुआ कि बस जमा सो जमा। अच्छा लो उठो अब कुर्सीसे।"

अच्छा लो अब उठो कुर्सीसे! यह खूब रही। मुझे अभी अग्रलेख लिखकर पूरा करना है, नहीं तो पत्र लेट हो जायगा और आप जानते हैं यह बहुत बुरी बात है। मैं उनसे कह रहा हूँ, पर कह वे रहे हैं—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें, लो उठो, बदनमें डालो कुरता और पैरोंमें चमकाओ चप्पल और बस फुर्र-फुर्र; सीधे लक्ष्मी टाकीजमें। अरे भाई, वो शानदार पिक्चर है सम्पादक जी, कि उसके एक-एक गीतपर दो-दो लेख और एक-एक डायलागपर चार-चार अग्रलेख न्योछावर हो जाएँ।"

मैं अपनी मजबूरियाँ अपने बोलोंमें पिरो रहा हूँ, पर उनके पास सबका एक ही उत्तर है अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें और लीजिये ये मेरा कुरता खूँटीसे उतारे ला रहे हैं और मेरे चप्पलोंको अपने बूटसे मसलते-धकेलते-सरकाते। उनके हर व्यवहारका एक ही अर्थ है—अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें!

एक तरफ़ पत्रका अग्रलेख और दूसरी तरफ सिनेमाका शो। साफ़-साफ़ एक तरफ़ प्रतिष्ठा और जिम्मेदारीका प्रश्न और दूसरी तरफ़ एक मामूली मनोरंजन, जो कभी भी किया जा सकता है। क्यों जी, यह क्या बात है कि इतने छोटेसे प्रश्नके मुक़ाबले, इतना बड़ा प्रश्न मेरे मित्रके गले क्यों नहीं उतरता? मैं अपने कामका महत्त्व जब उन्हें समझानेका प्रयत्न करता हूँ, वे कहते हैं—अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें और समझते हैं कि अब मेरी बात कोई बात नहीं और बस उनकी बात ही एक बात है, पर प्रश्न तो यह है कि वे समझदार आदमी हैं, फिर मेरी बातको क्यों नहीं समझ पा रहे?

मुझे याद आ रही है उस दिनवाली टेलीफोनकी बात। अरे साहब, अब क्या सुनाऊँ आपको, पर सुनानी तो है ही। मुझे अपने मित्र सेठ सेवक-राम खेमकासे कुछ काम था कि मैंने टेलीफोन उठाया और उनका नम्बर माँगा। उनका टेलीफोन बहुत कम ऐसी भलमनसाहत बरतता है कि माँगते ही मिल जाये, पर उस दिन वह मिल गया और एक रूखी-सी आवाज़ कानोंमें पड़ी---"किसे पूछते हो ?"

मैंने सेवकरामजीका नाम बता दिया, तो पूछा---"कौन हैं आप ?"

मैंने अपना नाम उन्हें बताया---प्रभाकर! करूं भी क्या, उपनाम ही मेरा नाम हो गया है और वही मुझे बताना पड़ा।

"सेठ जी भीतर हैं, अपना नाम बताइये, तो हम उन्हें कह दें।" फोनसे फिर प्रश्न हुआ और मैंने फिर अपना उपनाम बताया---प्रभाकर। सुनते ही वे बोले---"क्या कहा---टमाटर ?"

अपने सम्बोधनमें हरेक आदमी जीवनमें बहुत कुछ सुनता है, मैं भी सुनता ही रहता हूँ, पर यह सुनना सचमुच कुछ सुनना था और सच बताऊँ आपसे, सुनते ही मैं तो हँसते-हँसते लोटपोट हो गया और टेलीफोन रख देनेके सिवा मुझे कुछ न सूझा, पर कहानीका क्लाइमेक्स अभी बाक़ी है। थोड़ी देर बाद सेवकरामजीसे फोन मिला, तो पूछा---अरे भाई, ये कौन थे फोनपर, जो मुझे टमाटर बना रहे थे ?

वे भी जोरसे हँसे और तब बोले---"भाई साहब, वे हमारे रसोइया जी थे। बात यह है कि उनकी रसोईमें आप तो कभी आते नहीं, पर टमा-टर रोज आते हैं, अब आप ही बताइये कि प्रभाकरकी जगह वे टमाटरको याद करते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ?"

सुनकर मुझे भी इतने ज[illegible] देनेके सिवाय कुछ और नहीं सूझा, पर तभी खुल गई मेरे सामने रामचरणजीके आग्रह-

की बात कि वे मेरे अग्रलेखको महत्त्व न देकर सिनेमा चलनेको महत्त्व क्यों दे रहे थे ?

क्यों दे रहे थे ? यही तो कह रहा हूँ। बात यह है कि हम जो चाहते हैं, वह चाहने लायक है या नहीं, इसे भूल जाते हैं और भूल क्या जाते हैं चाहका चाव हमें दूसरी बातपर ध्यान ही नहीं देने देता, क्योंकि ध्यानका आधार है सम्पर्क, पर जब कोई बात अपनी गहराईसे अपनी सचाई और हमारी चाहके बीचमें आकर खड़ी होती है, हमें अपने बारेमें सोचनेको मजबूर करती है, तब सचाई और गहराईके उस तकाजेको टालनेके लिए हम एक ढालका प्रयोग करते हैं और वही ढाल है, अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें !

जीवन भी एक अद्भुत ग्रन्थ है, अजीब मसखरा है। इसमें बहुत-सी चीजें हैं जिन्हें हमने कभी नहीं देखा और कभी नहीं जाना, पर हम उन्हें १०० नहीं सवा सौ फीसदी सच मानते हैं। ऐसी एक बात है कबूतर और बिल्लीकी। कहते हैं जब कबूतर अपनी मौजमें गुटर गूँ गा रहा हो और एक डरावनी बिल्ली कहींसे बचती-सिमटती अचानक उसके सामने आ कूदे, तो यों है कि बिल्ली नहीं, मौत ही छातीपर आ कूदी।

अक्लकी माँग है कि कबूतर अब एक भी पल खराब न करे, अपने पर तोले और झपाकेसे यों उड़े कि श्रीमती बिल्ली देवी जी देखा करें टुकर-टुकर और माँजा करें अपनी ही जीभसे अपने होंठ, जैसे रसगुल्ला किसी बच्चे-के ओठोंसे लगकर नीचेकी गन्दी जमीनपर आ गिरा हो, पर नहीं, कबूतरजी न तोलेंगे पर और न लेंगे उड़ान, बस अपनी जगह जरा सिमटेंगे और आँखें करेंगे बन्द और समझें आप कि समझेंगे यह कि न अब हम देख रहे हैं देवीजीको और न कुछ कर सकती हैं हमारा वे।

कहते हैं जब आदमी सोता है, उसकी अक्ल तब भी जागती रहती है। तो अब उनकी अक्ल उनकी इस समझदारीपर हँसेगी और कहेगी उनसे

कि भले आदमी, ज़रा आँखकी दोनों नहीं, तो एक ही पुतलीको टिमटिमाकर देख, यमराज अपना पंजा साध रहा है बोड़म, पर जानते हैं आप कि कबूतरजी क्या कहेंगे यह बात सुनकर ?

वे कहेंगे बस यह कि अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें और बस ज़रा और सिमट जायेंगे वे महाशय, जैसे स्वयं ही अपनी रोटीका एक ग्रास, चपातीका एक लुकमा बना रहे हों। यह दुनिया दूसरोंको रोटीका ग्रास बनानेमें वैसे ही बहुत होशियार है, फिर जब कोई स्वयं ग्रास बननेमें सहायता-सहयोग देने लगे, तो क्या कहने---मुफ़्तमें और मीठा। पता नहीं बिल्ली और कबूतरकी इस बातमें कितनी सचाई है और कितनी नहीं, पर मेरी आप मानें तो इसे सच मान लें और सच भी सचमुच १००फ़ी सदी।

अपनी बात कहूँ आपसे ? मैंने तो पिछले सालसे इसे पूर्ण सत्य मान लिया है और यह काम किसी खंडहर या वीरानेमें नहीं, भारतकी राजधानीके चहल-पहलकी कनाट प्लेसमें एक बेंचपर बैठे-बैठे किया था।

"क्या किया था आपने कनाट सर्कसमें बैठकर ?" यह आप पूछ रहे हैं और मैं कह रहा हूँ आपसे कि कनाट सर्कसमें बैठकर मैंने इसे १०० टका सच मान लिया था कि एक ऐसी भी दवा है जिसे खाकर आदमी भयको, खतरेको सामने देखकर भी आँख मींच सकता है और मान सकता है कि अब कोई भय नहीं रहा; बिल्कुल उस कबूतरकी तरह !

"एं ! क्या कहा कि ऐसी कोई दवा है कि जिसे खाकर आदमी सामनेके भयको भूल सकता है ?"

हाँ जी, आपका प्रश्न सही है, सच्च है, कामका है और मैं कहता हूँ कि हाँ, एक ऐसी दवा है और लीजिये बताऊँ आपको कि वह दवा ऐसी नहीं कि गोविन्द अत्तार पुड़ियामें बाँध दे या केमिस्ट किरतार शीशीमें घोल दे। वह दवा ऐसी है कि आप ही घोलें और आप ही पियें। यह दवा है यह [illegible]

कि अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें और इस ज्ञानका साक्षात्कार मुझे कनाट सर्कसमें हुआ था।

बात यह हुई कि मैं कनाट सर्कस में एक बेंचपर बैठा ताजी हवा ले रहा था कि मेरे पास ही सड़कपर एक मोटर टैक्सी रुकी और उसका ड्राइवर और यात्री दोनों गुत्थमगुत्था होने लगे। लड़तोंके बीचमें आ कूदना और लड़ाईको असम्भव कर देना, मेरा स्वभाव है और स्वभाव न समय देखता है न स्थान। मैं भूल गया कि मैं परदेशमें हूँ और जा पहुँचा युद्ध क्षेत्रमें।

पहला निशाना बिठाया मैंने ड्राइवरपर—"अपनी सवारियोंसे ही लड़ते हो भैया?" बोला—"बाबूजी, जब सवारी नाक़ हो जाय तो क्या करें? सुबह आठ बजे इन्होंने टैक्सी ली और कुतुबमीनार और जाने कहाँ-कहाँ ले गये। अब ५ बजे गाड़ी छोड़ रहे हैं, तो कहते हैं कि किरायेके रुपये मेरे पास नहीं हैं।"

यात्री साहब झल्लाकर बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें। लो हटो, अब हमें जाने दो। दो चार दिनमें फिर मिलेंगे और न मिले, तो यार, क़यामतके दिन अपना हिसाब कर लेना, वहाँ ज़रूर मिलेंगे!"

यात्रीकी यह बेफ़िक्री देखकर मुझे लगा कि ड्राइवरकी बात झूठी है और बात यह नहीं कुछ और है, पर तभी तमककर ड्राइवरने कहा—"क़यामतके दिन नहीं, हिसाब तो मैं तुमसे अभी करूँगा लो!"

यात्रीने गुर्राकर कहा—"तो ले, अभी कर" और घूसा मारकर खिड़कीका शीशा तोड़ दिया। मैंने उसे थपथपाया—"आख़िर बात क्या है? और ड्राइवर भाईकी बात सही है, तो आपको इसके किरायेके रुपये अभी देने चाहियें।"

नम्रतासे वह बोला—"बड़े भाई, रुपये जब जेबमें हैं ही नहीं, तो दे दूँ क्या इसे?"

तो जब रुपये आपकी जेबमें नहीं थे, तो आप दिनभर टैक्सीमें क्यों घूमते रहे मेरे भाई ? मैंने पूछा तो वे तड़ाकसे बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें। भाई साहब, सुबह-सुबह ही दो फ्रेंड मिल गईं और कहने लगीं कि चलो घूमने। महीनोंकी मनहूसियतके बाद खुशीका यह मौक़ा मिला, तो मैं कैसे इन्कार कर देता, भला आप ही बताइये कि क्या रक्खा है इन बातोंमें !"

उसकी बात सुनकर सच कहूँ आपसे कि मैं मान गया कि कबूतर आँख मींचकर जरूर बिल्लीको भूल सकता है और यह दवा ऐसी है कि इसे खाकर आनेवाला भय और खतरा पास नहीं फटक सकता। सौ ख़तरे हों, लाख भय हों, उन्हें सोचो मत—अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें !

तो क्या हमारे रामचरणजी, क्या कबूतरजी, और क्या हमारे यात्री-जी; सबकी बातोंमें एक बात है कि क्या रक्खा है इन बातोंमें—यानी क्या रक्खा है कर्त्तव्यमें और क्या रक्खा है जिम्मेदारीमें, छोड़ो उन्हें और जीवनकी मौज-बहार लूटो।

सोच रहा हूँ, तो छोड़ दूँ अग्रलेखकी चिन्ता और चला जाऊँ सिनेमा भाई रामचरणके साथ—आख़िर इतनी दूरसे आये हैं वे ? अन्तःकरणका उत्तर है—कर्त्तव्यकी निष्ठा और दृढ़ संकल्प ही व्यक्तिको व्यक्तित्व देते हैं और इनमें ढील आई कि आदमी खोखला हुआ। नहीं, मुझे अपना काम करना है और कहीं नहीं जाना है—लाख बातें हैं, पर क्या रक्खा है इन बातोंमें !

मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवक़ूफ़ ?

[१]

"अच्छा भाई, आज तो फिर कोई कहानी सुना।"

"ले फिर सुन, पर हाँ, यह बता कि आपबीती सुनाऊँ या जगबीती ?"

"अरे भाई, जगबीती तो हमेशा ही सुनाते रहे, आज तो आपबीती सुना, जो दिलसे निकले और कलेजेमें समाये।"

यह लोक कथामें युग-युगोंसे चली आ रही आपबीतीकी भूमिका है और जब भूमिका मैंने यहाँ ली, तो मुझे भी आज अपनी आपबीती ही आपको सुनानी है, पर सोचता हूँ कि आपबीती भी क्या सुनानी है, आपसे एक सलाह लेनी है और सच तो यह है कि सलाह भी कुछ नहीं लेनी। बस एक अजब मखमसेमें उलझ रहा हूँ, तो चाहता हूँ कि आप ही हाथ पकड़कर किनारे लगा दें।

आँख नहीं तो जहान् नहीं; ठीक ही है, पर कमबख्त अपना नहीं देखतीं, दूसरोंको घूरा करती हैं। बात मेरी है, पर मेरी ही समझमें नहीं आती और क्या कहूँ आपसे कि चादरपर स्याहीके धब्बे मेरी ही दावातके हैं, पर तै नहीं कर पाता कि चादर मेरी है या उनकी ?

तो लीजिए फिर आपसे ही पूछता हूँ कि मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवक़ूफ़ हूँ ? ठीक ही है कि पहला काठ बूझना अता-

पता बतायें, पर आप जानते हैं कि लाग लपेट मुझे आती नहीं, साफ़ कहना मेरी आदत, तो अता-पता क्या, बस पूरा पता ही आपके सामने है।

[२]

"हिन्दीके मूक साधक श्री०...जी अस्पतालमें पड़े हैं। परिवारमें कोई है नहीं, तो खबर कौन ले? भय है कि यह इकलापन उनके जीवनका अन्त न कर दे। क्या उनके लिए कुछ हो सकता है?" एक मित्रका यह पत्र मिला, तो मन सिहर उठा।

मैंने भाभीजी-ममतामयी श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैनसे सलाह की, तो तै हुआ कि उन्हें यहीं बुला लिया जाय। खर्चेके रुपये मित्रको तारसे भेजे कि वह उन्हें यहाँ छोड़ जाँय और तीसरे दिन वे आ भी गये। डेढ़ महीना वे भाभीजीके घर अतिथि रहे। भोजन-पथ्य तो उन्होंने किया ही, हरद्वार-ऋषिकेशकी यात्रा भी उन्हें करा दी।

अब आया उनकी बिदाईका समय, तो सोचा कि अभी बीमारीसे उठे हैं, घर पहुँचते ही पैसा कहाँ पायेंगे। भाभीजीसे कुछ कहना जँचा नहीं, तो भाई शिवचरणलाल खेमकासे बात की। उन्होंने चलते समय आदरसे भोजन कराया और १००) रुपये उन्हें भेंट कर दिये। वे चले गये।

मैं सन्तुष्ट था कि उन मित्रका पत्र मिला—"श्री··जी नाराज हैं कि आपने चलते समय उन्हें श्रीमती चन्द्रवतीजीसे कुछ नहीं दिलाया—या देनेसे मना कर दिया।"

दूसरे साल श्री··जी अपने पैरों यहाँ आये और स्टेशनसे सीधे खेमकाजीके घर पहुँचे—वहीं अतिथि हुए। मेरी दुष्टताका खूब बखान किया। भाभीजीसे भी मिले। दोनोंको संकेत भी किये, पर दक्षिणा कहींसे न मिली, सिर्फ़ टिकट ही हाथ आया।

इस यात्राकी जो रिपोर्ट उन्होंने साहित्यिक मित्रोंको दी, वह इस प्रकार है—"चन्द्रवती तो उत्तराखण्डकी वनलक्ष्मी है, पर उसके द्वारपर एक ब्रह्मराक्षसका पहरा है!"

साफ़ है कि वह ब्रह्मराक्षस मैं हूँ!

[३]

एक उदीयमान कविसे पत्र-व्यवहार हुआ और जो बना, उनकी सेवा भी की। मेरे प्रदेशमें एक साहित्यिक-सम्मेलन हो रहा था। उनका पत्र आया कि मेरी इच्छा भी उसे देखनेकी है, पर जेबमें एक पैसा नहीं।

सम्मेलनके मन्त्रीसे मिलकर उन्हें निमन्त्रण भिजवा दिया और इण्टर क्लासका मार्ग-व्यय भी। वे आये, बहुत कृतज्ञ थे कि जीवनमें पहली बार ऐसी ममता मिली। सम्मेलन देखा, मसूरीतक घूमे।

घरमें माँ थी, छोटी बहन थी। बहनके लिए एक साड़ी ले जाना चाहते थे और टिकट तो अनिवार्य ही था। पूछा, तो बोले—१५) रुपये साड़ीके लिए चाहिएँ और १०) किरायेके लिए।

अपनी जेब तो आम तौरपर आकाश-तत्त्वसे परिपूर्ण रहती है। भाई सेवकराम खेमका और उनके अनुज श्री मेवकराम खेमका से २५) के लिए कह दिया। दूकानपर एक साड़ी देखी, जो उन्हें बहनके लिए पसन्द थी, पर उसका दाम २२) रुपये था। बजाज बन्धुको कह दिया कि सिर्फ़ १५) ही मिलेंगे और साड़ी उन्हें ले दी।

भाई खेमकाबन्धु व्यवस्थाचार्य माने जाते हैं, पर काममें भूल गये और शामतक रुपये न भेज सके। गाड़ी सुबह ७ बजे ही जाती थी, इसलिए १०) एक पड़ौसीसे उधार ले उन्हें दे दिये और पहुँचाने स्टेशन गया, तो प्लेट-फ़ार्मपर खेमकाजीका आदमी मिला—२५)का लिफ़ाफ़ा साथ!

गाड़ी उन्हें लेकर चली गई, लिफ़ाफ़ा लिये मैं लौट आया। १५) बजाजको भेज दिये, १०) पड़ौसीको। समझा, फ़ाइल ख़त्म हुई, पर ४-५ दिन बाद ही एक साहित्यिक मित्रके पास, मैंने ही उनसे जिनका परिचय कराया था, पत्र आया कि "मैं यह रहस्य नहीं समझ पाया कि आखिर भाई साहबने मेरे २५) कैसे अपने पास रख लिये ?"

साफ़ है कि मैं चन्दा-चक्रवर्ती तो था ही, चन्दा-चटोर भी हो गया !

[४]

चिड़ियाके बच्चेकी तरह मैंने उसे पोसा। हालत ही तब ऐसी थी कि आँधीका झोंका तो दूर, हवाका एक झपका भी उसे ले डूबता। उसे स्वीकार है कि उसके लिए जो मैंने किया, वह जीवन-भर और किसीने नहीं किया और उसे स्वीकार है कि उससे अधिक कोई किसीके लिए कर सके, यह असम्भव है।

उसकी घोषणा है कि मैं प्रशंसनीय ही नहीं, उसके लिए पूजनीय हूँ, पर मज़ेदार बात यह है कि हम दोनोंके सम्बन्धोंमें नीम और बबूल पनपे, आम और लीचियाँ नहीं—कड़ुआहट इतनी कि उससे बढ़कर भी हो सकती है, यह मुझे यक़ीन नहीं आता, कल्पना नहीं होती !

भला क्यों ? उसे शिकायत है, उसके लिए यह असह्य है कि वही व्यवहार मैं दूसरोंके साथ क्यों रखूँ ! उसकी अन्तश्चेतना है कि वह असाधारण सिद्ध हो; यानी जो कुछ मैंने किया, वह अपनी सद्भावनाके कारण नहीं, उसकी असाधारण पात्रताके कारण किया। ठीक भी है, जब वही व्यवहार दूसरे भी पायें, तो उसकी असाधारणता कहाँ ? नतीजा यह कि न वे मुझसे खुश हुए, न मैं उनसे खुश; बस जीवनमें एक हंगामा-सा मच कर रह गया।

[५]

बस, एक ही और ! वे मुझसे बहुत दूर हैं, कभी उन्हें देखा नहीं, सिर्फ पत्र-व्यवहार है। उनके कामसे मैं उन्हें पसन्द करता हूँ और चाह मनमें रहती है कि उनको कोई कष्ट न हो।

समय-समयपर जब भी उन्होंने याद किया, मैं उनके निकट आया—जो बना सो किया। उनके ही शब्द हैं—"जीवनमें कई बार तो तुमने मौतसे मुझे उबारा है।"

अब वे भी मुझसे नाराज हैं; क्योंकि वे अब जो कुछ चाहते हैं, उसके लिए एक लम्बी भाग दौड़की जरूरत है और अपने सिरकी भयंकर बीमारीके कारण वह भाग दौड़ मैं कर नहीं सकता। मैं उन्हें जो पत्र लिखता हूँ, उसमें वे और सब कुछ पढ़ते हैं, सिर्फ मेरे रोगकी बात नहीं पढ़ते। मेरे पुत्रने जब उन्हें यह समाचार दिया कि मैं दिल्लीके स्टेशनपर रेलके पुलसे लुढ़क गया, तो उसके उत्तरमें भी उन्होंने यही लिखा—"मेरे लिए वे अब कुछ करेंगे !" और उसीमें यह भी—"मेरे लिए उन्होंने आजतक कुछ भी नहीं किया।"

[६]

ये तो हुईं परिचितों-मित्रोंकी बातें, पर यह भी अक्सर हुआ है कि न जान-न-पहचान; कहीं उन्होंने नाम सुन लिया और पत्र लिखा, जिसमें उनकी परेशानियोंकी चर्चा और किसीकी बात न सुननेकी शिकायत !

अपने पास तो प्रेरणाकी ही पूँजी है और इसीका दो तरहसे उपयोग कि किसी उदार मित्रको कहकर कुछ रुपये उनके पास भिजवा दिये और उन्हें प्यार-प्रोत्साहनसे पूर्ण एक पत्र लिख दिया।

रुपये और पत्र उन्हें मिले कि उनका मान और गुणगानसे भरा पत्र आया और यह अनुरोध भी कि मैं उनके लिए कोई स्थायी व्यवस्था करा दूँ।

मैंने उनसे स्थायी व्यवस्थाका अर्थ पूछा, उनकी योग्यता जानी और आश्वासन दिया कि कहीं कुछ हो सका, तो प्रबन्ध करूँगा। बस, अब कभी दूसरे और कभी तीसरे दिन यह पत्र कि अभीतक आपने कुछ नहीं किया। मुझे मालूम है कि आपका देश-भरमें परिचय है। आप ऐसे-वैसे हैं; यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं।

अब यदि यह प्रबन्ध हो गया, तो कोई बात नहीं, पर प्रयत्न करने पर भी न हुआ, जैसा कि सम्भव है, तो बस फिर २-४ तेज-गरम पत्र और इधर-उधरकी चुर्रा चर्चा—"बस साहब, बात ही बात है, करना-धरना कुछ नहीं।" और यों भी—"मुझे दो महीने उलझाये रखा और फिर पटक दिया।"

[७]

इस तरह मैं देखता हूँ नाराजीके छोटे-बड़े अनेक गुब्बारे मेरे चारों ओर उड़ रहे हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ये गुब्बारे मुझे बर्र-ततैये और इससे भी बढ़कर साँप बिच्छू, दीखने लगते हैं।

बेचैन हो जाना, तो मेरा स्वभाव नहीं, पर फिर भी कभी-कभी यह सोचना तो पड़ता ही है कि मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ, या बेवक़ूफ़ ? मेरी इस प्रश्न-मालाका अर्थ होता है कि मैंने कोई नालायक़ी की है, भूल की है या यह सब मुझपर थोप दिया गया है ? मुझे कोई उत्तर तो शायद मिलता नहीं, पर हँसी जरूर आ जाती है। अपनी ही हँसीके इस मन्दप्रकाशमें मैं अपनेसे ही पूछने लगता हूँ—इन लोगोंकी तुझसे कोई लड़ाई नहीं, दुश्मनी नहीं कि ये तुझसे नाराज हों, तुझे बुरा-भला कहें, फिर इस कड़वाहटका रहस्य क्या है ?

अपनेसे अपने आप ही पूछे इस प्रश्नकी गहराइयोंमें मैं उतर जाता हूँ, उतरा चला जाता हूँ, तो देखता हूँ कि मुश्किलों, संकटों, परेशानियोंकी घड़ियोंमें मनुष्यका मन अति आशावादी हो जाता है और वह उन दिनोंकी

उपेक्षा सहकर जब कहीं ज़रा-सा भी सद्भाव पाता है, तो उसे लगता है, बस यही है वह, हाँ, यही है वह, जो मुझे सब संकटोंसे पार कर देगा। उसे इससे एक शान्ति मिलती है, विश्राम मिलता है और वह विरामकी कल्पना कर लेता है—

—और यह भूल जाता है कि हरेककी अपनी सीमा है, अपनी शक्ति है। बस जब यह भूल खुलती है, तो वह झटका खाता है और बौखला उठता है। बात यह है कि एक दुखको हम विवशताकी शक्तिके सहारे झेलते रहते हैं, पर बीचमें थोड़ा-सा सुख पाकर जब हम फिर उसी दुखमें घिरते हैं, तो वह अब हमारे लिए एकदम असह्य हो जाता है; हालाँकि कलतक हम उसे काफ़ी धीरजसे सह रहे थे!

मैं सोचता हूँ, बीमारीकी जड़ तो यों हाथ आ गई दीखती है; पर इसका इलाज क्या है? प्रकृतिका विधान विचित्र है कि पहाड़ोंपर जहाँ 'बिच्छू घास' होती है कि छूते ही नस-नसमें लहर हो जाय, वहीं 'पत्ता' भी होता है कि मलते ही लहर बुझ जाती है। इस रोगमें ही इसका इलाज भी है।

जबतक आजकी या आज जैसी समाज व्यवस्था है, इस तरहकी परेशानियाँ रहेंगी और उनमें मनुष्य मनुष्यसे उम्मीद भी करेगा ही, तो यों ये दो आदमी, जिसमें एक है परेशान और दूसरा वह, जिससे उस परेशानीमें है सहायता-सहयोगकी उम्मीद!

बस, तो पहला 'कुछ' चाहे, 'बहुत कुछ' न चाहे और 'सब कुछ' तो कभी न चाहे, क्योंकि दूसरेकी भी सीमाएँ हैं, यह वह भूला कि भटक गया!

और दूसरा जो कुछ कर सके करे, पर एक भी शब्द ऐसा न कहे, न लिखे, जिससे पहलेका 'कुछ' पलक मारते "बहुत कुछ" से 'सब कुछ' तक पहुँच जाए। यही नहीं, इतना और भी कि साफ़ तौरपर ऐसी दीवार खींचनेमें न चूके, जिसे छलाँगना पहलेकी उम्मीदों-आशाओंके लिए सम्भव हो!

बेईमान का ईमान, हिंसक की अहिंसा और चोर का दान !

दोपहर भोजनके बाद मुझे ध्यान आया कि मेरे अतिथिको पान मिलना चाहिए। कोई पास था नहीं, तो मैं ही चला गया सिनेमाके पासवाली दूकानपर।

"भाई, मेरे पास दो रुपयेका नोट है और मुझे दो पान लेने हैं—दोगे ?" बादकी उलझनसे उसे और अपनेको बचानेके लिए दूकानदारसे मैंने कहा !

वह पान लगाने लगा, मैं खड़ा रहा। तब पान लिये, नोट दिया और उसने जो एक रुपया और बाकी खरीज दी, उसे जेबमें डाल चल पड़ा। खोटा-खरा देखना मेरे संस्कारके विरुद्ध है; क्योंकि मैं पारखी नहीं, विश्वासी हूँ। अक्सर खोटे सिक्के आ जाते हैं और अपने नियमके अनुसार उन्हें कुएँ या नालेमें फेंक देता हूँ। उन्हें किसीको चलाता नहीं और इस तरह प्रतिमास ही कुछ-न-कुछ आर्थिक हानि सहता हूँ, पर संस्कार और सिद्धान्त हानि-लाभ देखकर तो जीते नहीं, तो खरीज बिना देखे ही जेबमें डाल-कर मैं लौट पड़ा।

"बाबूजी, सुनिएगा जरा।" किसीने पीछेसे मुझे पुकारा, तो मुड़ देखा कि वह पानवाला ही पुकार रहा है मुझे।

"ये पैसे [illegible] जरा।" पास आते ही उसने कहा, तो लगा कि यह शायद ज्यादा पैसे दे गया है। मैंने जेबसे ज्यों के त्यों निकालकर उसे दे दिये वे पैसे, तो उसने उनमेंसे एक सिक्का उठाकर अपनी सन्दूकचीमें रख लिया।

मैंने सोचा—ठीक है, ज्यादा ही दे दिये थे मैंने कुछ पैसे, अच्छा ही हुआ इसको ध्यान आ गया। नहीं तो खामखा बेचारेको नुकसान होता, पर तभी उसने अपनी सन्दूकचीमेंसे निकालकर एक सिक्का उसमें रक्खा और पैसे मुझे लौटा दिये।

मैंने उन्हें फिर ज्यों का त्यों, जेबमें रख लिया और पूछा—"क्यों, क्या बात थी भाई?"

"कुछ नहीं बाबूजी, एक चवन्नी खोटी थी उसमें, वह बदल दी है।"

मैं चल पड़ा और तब आप ही आप उसने कहा—"ऐसे आदमीसे भी क्या बेईमानी करना, जो देखे, न गिने!"

अब यह रहस्य मेरे सामने खुल पड़ा था कि उसने मुझे जान-बूझकर खोटी चवन्नी दी, धोखा देनेका प्रयत्न किया, पर मैंने उसका पूरा विश्वास किया कि न खरा-खोटा देखा, न गिनती की। मेरे इस विश्वासने उसके मानसको झकझोरा। यह झकझोर इतनी प्रचण्ड थी कि वह उसे सह न सका और स्वयं बुलाकर उसने वह खोटी चवन्नी वापस ले ली।

विश्वासकी यह विजय, मानवताका यह संस्पर्श मेरे तन-मनपर छा गया और लगा कि उसने मुझे केवड़ा पड़ी मीठी शिकंजवी पिलाई है अभी-अभी और उसकी सुगन्ध और स्वादसे मेरा अन्तर भर-भर उठा है।

"क्यों भाई, फिर तुमने पहले ही यह खोटी चवन्नी मुझे क्यों दी थी?" मैंने उसे तराजूपर चढ़ाया।

"और क्या करें बाबूजी? गाहक लोग उस्तादीसे हमारे सिर मढ़ जाते हैं खोटे सिक्के और सफ़ाईसे हम उनकी ही जेबमें उतार देते हैं उन्हें।" बिना झिझके वह खुल पड़ा—"इन्हें मैं अपनी दूकानमें तो कुछ बनाता ही नहीं।"

"अपनी जगह ठीक है तुम्हारी बात।" मैंने उससे कहा और लौट पड़ा, पर क्या मेरी बातका यह मतलब था कि मैं उसके कार्यका समर्थक

हूँ, उसे ठीक मानता हूँ ? मेरा मतलब था यह कि मैंने मान लिया था कि वह पानवाला मूलमें बेईमान नहीं है—सिर्फ़ दूसरोंके द्वारा अपने साथ किये बेईमानेको बेईमानेसे बचानेमें विश्वास करता है। कुश्तीकी भाषामें—यह विरोधीके दावको उसीके दावसे काटना है।

"—पर मैंने तो इसके साथ कोई बेईमानी नहीं किया था, फिर इसने मेरे साथ क्यों बेईमानी की ?" यह एक उपप्रश्न आया, पर मनके पास उसका समाधान जैसे पहले ही तैयार था—"इसके लिए तुम, ये, वे, कोई अलग-अलग व्यक्ति नहीं—एक ही व्यक्तित्व है गाहक ! बस गाहकने इससे बेईमानी की, इसने गाहककी हजामत बना दी। गाहक गाहक सब एक, पर आज जब इसकी दूकानपर एक ऐसा गाहक आया, जिसके विश्वासी व्यवहारसे सिद्ध हुआ कि यह गाहक तो है, पर बेईमान नहीं, तो इसके भीतरकी सहज ईमानदारीने कहा—बेईमानके साथ बेईमानी तो ठीक है, तेरा नियम है, पर यह तो आज तू ईमानदारके साथ बेईमानी कर रहा है; और बस उसने मुझे स्वयं बुलाकर खोटी चवन्नी बदल दी।"

लौटते-लौटते मैंने सोचा—यह तो बेईमानके ईमानका ही दर्शन हुआ आज और बस मैं आनन्दसे भर गया, पर अपने पलंग पर लेटते-लेटते मेरे अन्तरकी आँखोंमें घूम गया पेशावरका किस्साखानी बाजार और २३ अप्रैल १९३० की सुबह !

तब भारत गुलाम था और गुलामीके विरुद्ध एक बार सारा देश उभर उठा था। शराब और विदेशी वस्त्रोंकी दूकानोंपर स्वतन्त्रताके स्वयंसेवक धरना देते, लाठी चार्जके बीच भारत माताकी जय बोलते, जुलूस निकालते, आजादीके तराने गाते, जलसोंमें हुँकारते और इन्कलाब जिन्दाबादके नारोंसे आकाश को गुंजा देते। सरकार उन्हें गिरफ्तार करती, तो मालाएँ पहने और हजारोंकी भीड़से घिरे-घिरे वे यों जेल जाते, जैसे अपनी ही

शादीमें जा रहे हों!

अंगरेज सरकार देशके इस नये उभारसे चिन्तित थी, पर उन्हीं दिनों सरहदके सूबेमें जो कुछ हो रहा था, उससे तो वह बहुत ही परेशान थी। वहाँ सरहदी गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खानके तपस्वी नेतृत्वने खूनी पठानोंको अहिंसाका सर्वोत्तम सिपाही बना दिया था और वे लालकुर्त्ती दलके रूपमें स्वतन्त्रताके युद्धमें कूद पड़े थे।

२३ अप्रैलसे पेशावरमें भी शराब और विदेशी कपड़ेकी दूकानोंपर धरना आरम्भ होनेवाला था और इसमें अंगरेज सरकारको अपनी मौतका वारण्ट दिखाई दे रहा था। देशव्यापी यह धरना, सरहदमें उसके लिए उस अजगरकी तरह था, जो आदमीको अपनी कुण्डलीमें फँसा, अपनी ताक़तवर ऐंठनसे उसकी हड्डी-पसलियाँ तोड़ डालता है। उसे भय था कि यह आग कबायली इलाक़ोंमें फैल गई, तो बस फिर होली ही होली है। वह जानती थी कि मौतके खिलाड़ी पठान जेल और लाठीसे डरनेवाले नहीं, इसलिए उसने आगसे आगको बुझानेका फ़ैसला कर लिया था और गढ़वाली पलटनको आज किस्साखानी बाजारमें ला खड़ा किया था!

अब एक तरफ़ थे गढ़वाली जवान—अपनी राइफलोंसे लैस-लबैस और दूसरी तरफ़ लालकुर्ती पठान—अपनी बलिदानी भावनासे सजे-धजे। कांग्रेसका तिरंगा झण्डा आकाशमें फहरा रहा था। चारों ओर बाजारोंमें, छतोंपर, खिड़कियोंमें दर्शक ही दर्शक थे। एक अजीब वातावरण था, जिसमें सनसनी थी, उल्लास था, कुतूहल था, दर्प था, हुँकार थी!

कम्पनीका कमांडिंग-आफीसर कैप्टेन रिकैट तना खड़ा था। उसकी परवाह न करके स्वतन्त्रताके स्वयंसेवक गढ़वाली सिपाहियोंके पास आ-आकर उन्हें देशकी बात समझा रहे थे। यह देखकर रिकैट चिल्लाता—"हटाओ इनको यहाँसे!" और तब लम्बी-लम्बी सीटियाँ बजाता और

चिल्लाता—"भाग जाओ, भाग जाओ !"—पर उसकी आवाज और सीटी, जैसे वहाँ कोई भी नहीं सुन रहा था !

तभी एक गोरेने आकर रिकैटके हाथमें पर्चा दिया। उसे पढ़ते ही वह चिल्लाया—"तुम लोग भाग जाओ यहाँसे, नहीं तो गोलीसे भून दिये जाओगे !"

वह मृत्युके ताण्डवकी पहली थाप थी, पर एक भी आदमी वहाँसे नहीं हटा। कैप्टेन रिकैट तमतमा रहा था। फ़ौजी आदेशकी टोनमें उसने कहा—"गढ़वाली तीन राउण्ड फायर ! (गढ़वाली, तीन-तीन गोली चलाओ)।"

गढ़वाली बहादुरोंकी राइफलें उठीं और निशानेपर आईं, पर तभी गूँजी यह आवाज—"गढ़वाली, सीज फायर ! (गढ़वाली, गोली मत चलाओ !)" यह कैप्टेन रिकैटके बाईं ओर खड़े क्वार्टर मास्टर हवलदार चन्द्रसिंहकी आवाज थी।

उन सिपाहियोंके सामने अब दो हुक्म थे—तीन राउण्ड फायर और सीज फायर ! हिंसा और अहिंसाका यह एक ऐतिहासिक अन्तर्द्वन्द्व था। हिंसा पराजित हुई, अहिंसा विजयी। 'सीज फायर' का हुक्म पास हुआ और सिपाहियोंने अपनी-अपनी राइफिलें जमीनपर खड़ी कर दीं। भावना किस ऊँचे धरातलतक जा लगी थी, यह तब दिखाई दिया, जब एक सिपाहीने अपनी ५ राउण्ड भरी राइफिल पठानोंको सौंपते हुए दोनों हाथ उठाकर कहा—"लो, अब चाहो, तो तुम हमें मार डालो !"

कैप्टेन रिकैट अवाक्-भौंचक और आकाश भारत माताकी जय, महात्मा गाँधीकी जय, गढ़वाली पलटनकी जयसे भरा-गूँजा; जैसे आज उसमें पहली बार दिनमें फूल खिले हों !

जलती आँखोंसे रिकैटने हवलदारसे पूछा—"यह क्यों ?"

गम्भीर कण्ठसे हवलदारने कहा—"ये लोग तो खाली हाथ खड़े

हैं, निहत्थोंपर हम गोली कैसे चलाएँ ?"

हवल्दार चन्द्रसिंहकी बातका अर्थ क्या हुआ ? यही कि जो दुश्मन है, वार करना चाहता है, मिटाना चाहता है, उसपर हम वार करें, उसे मिटाएँ, यह सिपाहीका प्रशिक्षण है, स्वभाव है, संस्कार है, पर जो दुश्मन नहीं, जो हमारा बुरा नहीं, भला चाहता है और जिसके पास मारनेको हथियारतक नहीं, सिपाहीका हाथ उसपर क्यों उठे, सिपाही उसे क्यों मारे ?

यही मेरे पानवाले भाईकी बात कि जो मुझसे बेईमानी करे, मैं उससे बेईमानी करूँ, पर जो मुझसे बेईमानी नहीं करता, मैं उससे बेईमानी करूँ—तब भी मेरा विश्वास करता है—उससे मैं बेईमानी कैसे करूँ ?

अब मेरे दाईं ओर खड़े थे हवल्दार चन्द्रसिंह और बाईं ओर पान-वाला भाई। मैंने दोनोंकी ओर देखकर कहा—मेरे हवल्दार, तुम ही हिंसाका विवेक और पानवाले भाई, तुम बेईमानका विवेक। मैं तुम दोनोंको एक साथ नमस्कार करता हूँ।

और तुम कौन हो भाई ?

यह मेरे पलंगके पास कौन आ खड़ा हुआ ?

"मैं चोर हूँ—भैरोंसिंह। मेरी भी एक कहानी है।"

तो सुनाओ अपनी कहानी, मैंने कहा, तो बोला—"दिल्ली-बम्बई लाइनपर पिछले २० वर्षोंसे मैं चोरीका रोजगार करता हूँ। बड़ा शान-दार काम है मेरा कि 'इन्वैस्टमेंट' कुछ नहीं, पर 'डिविडेंड' भरपूर ! कभी-कभी तो एक ही हाथ ऐसा बैठता है कि जन्मभर खाओ, तो खत्म न हो, पर जोड़ रखना मेरे पेशेमें धर्म-विरुद्ध है, इसलिए गंगा बहती रहती है—जैसे आता है, वैसे जाता है !

तो उस दिन मैं लाइनपर अपने कामकी तलाशमें था कि मैंने देखा कुछ लोगोंके पास रुपयों और जेवरोंसे भरा . . . . । उन्होंने

उसमें एक किताब-सी रखी, तो मैंने भाँप लिया कि माल चकाचक है।

एक बूढ़ा उसकी देखरेख कर रहा था। वह उठकर जरा टट्टीमें गया और मैं उसे उठाकर दूसरे कम्पार्टमेण्टमें जा पहुँचा। मैंने सोचा कि हल्ला मचेगा, तो इसे झाड़ियोंमें फेंक दूँगा और अगले स्टेशनपर उतर जाऊँगा, पर कोई हल्ला नहीं मचा, तो समझ लिया कि बूढ़ा टट्टीसे आकर सो गया है। यों ही जरा ढक्कन उठाकर देखा, तो लक्ष्मीका धवल रूप आँखें चौंधिया रहा था, पर यह किताब क्या है ? देखा, तो गोआ सत्याग्रहकी रसीद-बही थी। पूछकर जाना कि गोआमें लोग देशके लिए बलिदान होनेको जा रहे हैं और जनता हर स्टेशनपर दान देती है।

ओह, इस कनस्तरमें सत्याग्रहियोंको मिले दानका रुपया है और मैं इसे चुरा लाया ! एक बार मुझे ध्यान आया कि बहुत दिनसे ताजमहल होटलमें नूरजहाँके साथ तीन दिन गुच्च रहनेकी इच्छा थी, सो इस कनस्तर-से पूरी हो जायगी, पर दूसरे ही क्षण मेरी आत्माने कहा—कमबख्त, जो लोग देशके लिए मिट रहे हैं, उन्हें कुछ देना चाहिए या उनका माल हड़पना !

बस मैंने अपनी जेब देखी और उसमें जो बाइस रुपये थे, वे उस कनस्तरमें रख दिये। एक पर्चा लिखा कि भाइयो, मैंने आपका कनस्तर चुरा लिया था, पर रसीद बहीसे आपके बलिदानकी बात जानकर जेबके २२ रुपये इसमें रख, इसे आपके पास भेज रहा हूँ। ईश्वर आपको सफल करे और एक आदमीके हाथों कनस्तर सत्याग्रहियोंके डब्बेमें भिजवा दिया।

कहानी सुनकर मैंने कहा—ठीक है, यह चोरका विवेक है, तो सार यह कि मनुष्य किसी भी स्थितिमें हो, विवेकको कभी हाथसे न जाने दे; क्योंकि मनुष्यके जीवनमें विवेक ही मार्गदर्शक प्रदीप है। और यह भी कि मनुष्य लाख बुरा बन जाये, पर कभी बुरा नहीं होता !

सीता और मीरा !

भारतीय इतिहासमें नारी-चरित्रके दो महान् पात्र हैं—सीता और मीरा। सीता सामाजिक मर्यादाका प्रतीक है और मीरा मर्यादा-भंगका। क्या ये दोनों नारीके स्वतन्त्र रूप हैं? दो होकर भी लगता है ये दोनों नारी-चरित्रका आदि अन्त हैं—एक ही तस्वीरके दो पहलू हैं। सीता भी अपनेमें अपूर्ण और मीरा भी। ये दोनों मिलकर एक पूर्णताका रूप लेती हैं।

सीताका सन्देश है सामाजिक मर्यादाओंकी अभंगता। समाजने समाजके हितके लिए जो मर्यादाएँ रचीं और जिन्हें नागरिकोंने स्वेच्छासे समाजकी समुन्नतिके लिए स्वीकार किया, उन्हें पालनेमें सुख हो या दुख, मान मिले या अपमान, नारीको उन्हें मानना है, पालना है, नहीं तोड़ना है, नहीं ही तोड़ना है।

सीताने रामकी स्मृतिमें रावणके स्वर्ग-राज्यपर लात मार दी। अशोक-वाटिकामें ऐसी यातनाएँ सहीं, जो उस जैसी सुकुमारीके लिए ही नहीं, स्वयं रावणके लिए भी असह्य हो उठतीं, पर वह अडिग रही। रामके बिना उसके लिए सब कुछ निस्सार था, पर रामने इस प्रेम-त्यागके बदले सीताको क्या दिया? समाजके सामने उसकी अग्नि-परीक्षा ली और इस अग्नि-परीक्षाके बाद भी एक मूर्ख धोबीके कहनेपर गर्भिणी सीताको बनमें धकिया दिया। सीता फिर भी अभंग रही।

क्या इसका यह अर्थ है कि उसने रामके इन कामोंको पसंद किया? वह ऐसी भोली न थी—उसने समझा कि वह निर्दोष है, फिर भी उसे दण्ड दिया गया है, पर उसने साथ ही यह भी समझा कि यह दण्ड रामके ओछेपन, उसकी क्षुद्रताका फल नहीं है। यह रामके समाज-विधान-रक्षक रूपका

कर्तव्य पालन है। उस दण्डको उसने रामके कार्यमें अपना सहयोग मानकर सहा और रामके प्रति अपनी निष्ठाको अखण्ड रखा। समाजने पतिव्रतके रूपमें नारीपर जो मर्यादाएँ लगाईं, सीताने अन्याय सहकर भी उनकी रक्षा की। सीताका यह कष्ट समाज-विधानकी रक्षाके लिए सहा गया तप था; जैसे इस युगमें राष्ट्रकी रक्षाके लिए श्रीमती सरोजिनी नायडू और विजय-लक्ष्मी पण्डितकी जेल-यात्रा।

रामने क्रोधवश, घृणावश, प्रतिहिंसावश, क्षुद्रतावश यह सब नहीं किया, अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए ही यह कष्ट सहा। कष्ट सहा ? हाँ ! सीता वनमें रही, तो वह घरको ही वन बनाकर रहा। उसके मनमें सीता कभी लांछित नहीं हुई, अप्रिय नहीं हुई। वह उसकी यादमें तड़पा, रोया, पर अभंग रहा। वह स्वयं नई रानी ले आता, तो पतित हो जाता। वह भी अडिग रहा, वह भी अडिग रही। दोनोंने व्यक्तिगत कष्ट सहकर भी समाज-मर्यादाकी रक्षा की।

हम कह सकते हैं कि ड्यूक आफ विण्डसरकी तरह राम भरतको राज्य देकर और स्वयं सीताके साथ बनवासी होकर भी यही कर सकता था। ठीक है, पर उस युगकी परिस्थितियाँ क्या थीं ? जाने कब कबसे चला आ रहा दो संस्कृतियोंका संघर्ष तभी रामके द्वारा समाप्त हुआ था और राम तब उस विजयी संस्कृतिकी छायामें एक नई समाज-व्यवस्थाकी स्थापनामें लगा था।

वह तब लगभग उस स्थितिमें था, जिसमें १९२१-२२ में क्रान्ति-विजेता लेनिन था। एक प्राचीन समाज-व्यवस्था भंग हो चुकी थी और उसके स्थानमें एक नवीन समाज-व्यवस्था स्थापित हो रही थी। तब राम जरा भी चूकता, तो सारी क्रान्ति असफल हो जाती। क्या महान राम यह सह पाता !

इससे मिलती-जुलती परिस्थितियोंमें महापुरुष कमालपाशाने अपनी प्रिय पत्नीको तलाक दिया या नहीं ? उसकी पतिव्रता पत्नी जब महलसे विदा हुई तो कमाल उसे जाते हुए देख भी न सका—रूमाल आँखोंपर रक्खे, अपने फ़र्शके नीचे वह बैठा ही रह गया।

फिर राम और सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए अलग-अलग रहकर समाजका अन्याय सहा और विण्डसरने देशकी रक्षाके लिए अपनी पत्नीके साथ अपने घरसे अलग रह कर समाजका अन्याय सहा। विण्डसर सम्राट् एडवर्डके रूपमें यदि पार्लमेंटको ठुकराकर उस समय सम्राट् बना रहता और इंग्लैंडकी शक्तियोंको इस झमेलेमें उलझाता, राजनीतिज्ञोंमें बुद्धि-भेद पैदा कर देता, तो महायुद्धमें इंग्लैंडकी भली रक्षा होती, जो कि फ्रांसकी हुई।

एडवर्डने विण्डसर बनकर इंगलैंडको बचा लिया; एकदम उसी तरह जैसे रामने सीताको त्याग करके भारतको बचा लिया था। रामने इस एक ही झटकेमें अपने महापुरुषको देवत्व दे दिया और सारे विरोधोंकी भावनापर तेजाब छिड़क दिया !

इस प्रकार स्पष्ट है कि सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए समाजकी मर्यादाओंका पालन किया। यह जानकर भी कि रामका दिया दण्ड अन्याय पूर्ण है, नारी पर पुरुषका राक्षसी अत्याचार है, उसने रामके विरुद्ध विद्रोह नहीं किया। सीताने रामके दण्डकी ओर नहीं देखा, रामके उद्देश्यकी ओर ही आँखें रक्खीं। मनके प्यालेमें अपमानका जो विष घुला, उसे वह भगवान्‌का चरणामृत मानकर पी गई। एक विशिष्ट उद्देश्यके लिए पतिके साथ पत्नीकी लीनताका [illegible] त्तम उदाहरण है।

राम हमारी सभ्यताके पाणिनि थे। पाणिनिने संस्कृत भाषाको

अपने व्याकरणकी चारदीवारीमें ऐसा घेरा कि वह सदाके लिए बिखरनेसे बच गई। साथ ही यह भी सच है कि फूँक-फूँककर पग रखनेकी नीतिने संस्कृतकी ग्रहण शक्तिको रोक दिया। फलस्वरूप उसकी प्रगति रुक गई। संस्कृतको मृतभाषा कहना तो मूर्खता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह अतीतका वैभव बनकर तो रह ही गई। निश्चय ही आज भी वह हमारा शक्ति स्रोत है। पर जीवनका प्रवाह तो नहीं !

रामने समाज-व्यवस्थाकी जो मर्यादा बाँधी, सीता-परित्यागके रूपमें उसका स्वयं इतनी कठोरतासे पालन किया और शम्बूक वधके रूपमें जनतासे उसका पालन इतनी कठोरतासे कराया कि आगे चलकर यह मर्यादा आत्म निर्माणकी मधुर साधना न रहकर, बन्दी-जीवनका कठोर नियन्त्रण रह गई। सीताने अपने जीवनके आदर्शसे पुरुषके जिन अधिकारोंकी घोषणा की, पुरुषकी प्रधानताका जो प्रदर्शन किया और विशिष्ट उद्देश्यके लिए पुरुषके प्रति नारीके आत्म-समर्पणका जो दृष्टांत उपस्थित किया, वह क़ानून बन गया। अब समाजमें पुरुषके अधिकार निःसीम और नारीका कोई अधिकार नहीं। हमारे सामाजिक विधानकी कोमलता नष्ट हो गई और वह पत्थरके स्तम्भकी तरह नारीकी बन्धन-शिला बनकर रह गया।

मीरा इस बन्धन-शिलाके विरुद्ध एक शक्तिशाली विद्रोह है।

मीराने धार्मिक वातावरणमें अपने बचपनके साँस लिये। माँ उसकी बचपनमें मर गई। पितामह दूदाजी परम वैष्णव थे। उनके सम्पर्कमें मीराका मन कृष्ण प्रेममें कुछ इस तरह रँग गया कि उसमें और किसीके लिए स्थान ही न रहा। दुनियाने जाना और माना कि मीराका विवाह मेवाड़के महाराणा साँगाके ज्येष्ठ पुत्र भोजराजके साथ हो गया, पर मीराका विवाह मीराके लिए तो, उसी गिरिधर गोपालके साथ हुआ, जिनकी मूर्तिको अपने साथ लेकर वह विवाह-संस्कारके आसनपर बैठी।

आनुषंगिक दुर्भाग्य कि वह शीघ्र ही विधवा हो गई और उसके सगे देवर रत्नसिंहकी भी मृत्युके कारण उसके सौतेले देवर राणा विक्रमपर आ पड़ा उसके संरक्षणका भार।

मीरा बन्धनहीन, मर्यादाहीन, स्वच्छन्द साधनी और राणा आदेश, नियन्त्रण और मर्यादाका पुजारी—दोनोंमें संघर्ष स्वाभाविक था और वह आया।

राणा सीतापति रामका वंशधर, जिसने वर्णाश्रम व्यवस्थाके विरुद्ध तप करते शूद्रका सिर तलवारके एक ही वारमें धड़से अलग कर दिया और प्रेम-पगली मीरा हरिजन सन्त रैदासकी शिष्या—'गुरु मिलिया रैदासजी, दीनी ज्ञानकी गुटकी।'

राणा सामाजिक बन्धनोंका दास, जिसके लिए रानीका स्वरूप यह कि उसे सूर्य भी न देख सके और मीरा इन सब बन्धनोंसे मुक्त, बन-उपवन साधुओंके साथ कृष्ण भक्तिमें नाचती-गाती एक उन्मुक्त विहंगबाल!

राणाजी अब न रहूँगी तोरी हटकी,
साधु संग मोहीं प्यारी लागै लाज गई घूँघटकी।

× × ×

सतगुरु मुकुर दिखाया घरका नाचूँगी देदे चुटकी।

राणाके दिमागमें रानीका चित्र है—सोने-रत्नोंसे जड़ा, रेशमसे लकदक और महलोंमें बन्द, पर मीराका शृंगार है रुद्राक्षकी माला, चन्दन-चर्चित ललाट और दिन-रातके बन्धनोंसे भी स्वतंत्र।

"महल किला राणा मोहि न चाये सारी रेशम पटकी।
हुई दिवानी मीरा डोले केश लटा सब छिटकी।।"

दीवानी मीराकी घर-घर चर्चा है। इस चर्चामें निन्दाका विष ही घुला है, अमृतकी कहीं एक बूँद नहीं, फिर राणा उस रामका वंशधर,

लोक लाज और लोक-संग्रहके नामपर जिसने निर्दोष पत्नीको वनवास दे दिया। वह अपने वंशकी यह निन्दा कैसे सहे? उधर मीराकी कोई निन्दा करे या स्तुति उसे क्या। उसके लिए तो स्पष्ट दिशा है—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई !" जिसके लिए दूसरा कोई है ही नहीं, वह लोक-लाज किससे करे !

राणाकी बहन ऊदाँबाई मीराको समझाती है—

"भाभी मीरा, साधाँको संग निवार सारो शहर थारी निंदा करै।"

मीरा बिल्कुल अपनेमें स्पष्ट है—

"बाई ऊदाँ करै तो पड़या झक मारो मन लाग्यो रमता राम सूँ।"

ऊदाँबाई लोक निन्दाका दूसरा पक्ष लेती है—

"भाभी मीरा, गढ़ चित्तौड़ राणो जी लाजै गढ़रा राजवी।"

अरे भाभी, तुझे अपनी निन्दाकी चिन्ता नहीं है, तो कमसे कम इस महान् चित्तौड़ और उसके राणाकी तो तू चिन्ता कर, पर मीरा क्या अपने प्रति कहीं अस्पष्ट है कि वह शरमावे—

"बाई ऊदाँ, तार्‌योतार्‌यो चित्तौड़ राणाजी तार्‌यो गढ़रा राजवी।"

अरे बावली ऊदाँ, मैंने तो अपने कर्मोंसे इस तेरे चित्तौड़ गढ़ और उसके राणा दोनोंको तार दिया है।

अब नारीने नारीके कोमल मर्मपर उंगली रख उसे टटोला।

ऊदाँबाई कहती है—

"भाभी मीराँ, राणाजी रो बचन न लोप, उन रूठ्याँ भीड़ी कोऊ नहीं !"

भाभी, राणाकी बात न टाल, उनके रूठनेपर तेरी कोई रक्षा नहीं कर सकता ! ऊदाँ बेचारी नहीं जानती कि मीराका रक्षक तो सदैव मीराके साथ है—

"ऊदाँ, रमापति आवै म्हारे भौंड़ अरज करूँ के तारणू बीनती।"

सखी सहेलियोंके ये परामर्श, विषका प्याला, काँटोंकी सेज और काला नाग सब असफल रहे—मीराका बढ़ा कदम फिर पीछे न मुड़ा। मीराने अपनी बात अन्तमें दो टूक कह दी—

राणा नै समझावो जावो, मैं तो बात न मानी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सन्तां हाथ बिकानी।"

मीरा समाजकी मर्यादाके प्रति आदिसे इतितक विद्रोही है। न उसे प्रलोभनोंसे उस मर्यादामें बाँधा जा सका, न लोक-निन्दाके भयसे और न मृत्यु एवं दण्डके आतंकसे। वह अपने रास्ते चली और सिर्फ अपने ही रास्ते चली। अपने रास्तेकी ऊँचाई और पवित्रता ही उसके सामने रही, लोकापवाद नहीं।

मूर्ख और अन्धा समाज यदि असत्यको सत्य, पापको पुण्य और माणिकको गीरा कहे, तो क्या हमें झुक जाना चाहिए और उसकी हाँमें हाँ मिलानी चाहिए? मीराके जीवनकी प्रतिध्वनि है—नहीं, एक बार नहीं, हजार बार नहीं, लाख बार नहीं; और बस यही मीराका विद्रोह है!

सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए जिस मर्यादाका कठोर पालन किया, मीराने सत्यकी रक्षाके लिए उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और दोनोंने मिलकर जैसे संसारसे कहा—समाजकी मर्यादा संकट सहकर भी पालन करनेके योग्य है; जब वह सत्यपर आश्रित हो, शिवपर संतुलित हो और सुन्दरकी विधायिका हो और समाजकी मर्यादा संकट सहकर, प्राण देकर भी भंग करनेके योग्य है, जब वह सत्यके विरुद्ध हो, शिवकी बाधक हो और सुन्दरकी नाशक हो।

स्पष्ट शब्दोंमें—मर्यादा साधन है साध्य नहीं। वह इसलिए है कि सत्य, शिव, सुन्दरका पथ प्रशस्त करे। वह इसलिए नहीं है कि सत्य,

शिव, सुन्दरके पथमें बाधक बनकर खड़ी हो— उसे यह अधिकार नहीं दिया जा सकता, नहीं दिया जा सकता। पहली दशामें वह पोषण है और दूसरीमें शोषण और यह तो बालक भी जानते हैं कि पोषण हमारे सिञ्चनका और शोषण हमारे संहारका ही पात्र है—जहाँ पोषणका शोषण और शोषणका पोषण होता है, वह व्यक्ति हो या समाज फल-फूल नहीं सकता !

सीता और मीरा; हमारे राष्ट्रके दो महान् नारी-चरित्र और हमारी नारी-संस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण इकाई ! इस इकाईके प्रति हमारा शत-शत वन्दन और लक्ष-लक्ष अभिनन्दन !

मेरे मित्रकी खोटी अठन्नी !

चित्रकार मित्र श्री आशाराम शुक्लके कला-निकेतनसे उस दिन नई दिल्ली रेडियो स्टेशनके लिए चला, तो एक मित्र भी साथ हो लिये। छह रुपयेमें तांगा किया, रेडियो स्टेशन पहुँचे, तो देखा कि जेबमें कोई छोटा नोट ही नहीं।

दस रुपयेका नोट तांगेवालेको दिखाया, तो उसने एक अधूरे वाक्यमें ही अपनी बात पूरी कर दी—"अजी, सरकार !" साथ आये मित्रका हाथ उनकी जेबको छूने वाला ही था कि अपना नोट मैंने उन्हें थमाया और भीतर चला गया। थोड़ी देर बाद वे भीतर से लौटे, तो मेरा नोट उनके हाथमें था। बोले—"नोट तो टूटा नहीं, पर एक बला टल गई। जाने कहाँसे एक खोटी अठन्नी जेबमें आ घुसी थी और महीना हो गया, टलती ही न थी। एक रुपयेके नोटमें लपेटकर तांगेवालेको भिड़ा आया।"

मुझे यह बुरा लगा। मैंने उन्हें इसके लिए बुरा-भला कहा, तो बोले—"अजी, अब आपकी तरह तो हम भगत हो नहीं सकते। फिर मैं खोटे सिक्के ढालता तो हूँ नहीं, चलती हुई आई थी, चलती हुई चली गई !"

कोई एक घण्टा बाद हम रेडियो स्टेशनसे बाहर निकले, तो देखा कि वही तांगेवाला खड़ा है। उसने हमें बुलाया और हम बैठ गये। ते करनेकी भी कोई बात न थी; अभी तो हम उसमें आये ही थे।

मुझे खुशी हुई कि वह मिल गया। तांगेसे उतरकर नोट टूटेगा, तो सोचा इसकी खोटी अठन्नी भी बदल दूँगा, पर मेरे मित्र मुझसे अधिक चौकन्ने थे। उन्होंने मेरे उतरनेसे पहले ही अपने पाससे दो रुपयेका नोट तांगेवालेको थमा दिया। उनके पास शायद वही नोट था और किसी

दुर्घटनाकी सम्भावना भी उनके मनमें न थी, पर तांगेवालेने नोट लेकर जब उनकी ही दी हुई खोटी अठन्नी उनके हाथ दी, तो बेचारे झेंपे भी, झिझके भी, पर करते क्या, राह तो कहीं थी ही नहीं। उनकी जेबसे चली अठन्नी, चल फिरकर उनकी जेबमें आ पहुँची।

एक बार तो लगा कि मेरे भीतर हँसी उफ़न पड़ेगी, पर तभी जैसे गम्भीरताकी गाँठ उलझ-सी गई। मुझे लगा कि यह खोटी अठन्नी जीवनका एक बड़ा पाठ है, पर वह पाठ क्या है ?

नोट तुड़ाकर तीन रुपये मैंने भावनामें हाँ और स्वरोंमें ना कहते, मित्रकी जेबमें डाले और अपने कमरेमें आ लेटा—वह अठन्नीका पाठ क्या है ?

[२]

आदमीका मन भी अजीब चीज है। सोच रहा था अठन्नीकी बात और जा पहुँचा लक्सर स्टेशन। १९३५-३६ की बात है। एक मुसाफ़िर स्टेशन मास्टरके पास आया। उसकी गाड़ी छूट गई थी। रातभर उसे स्टेशनपर रहना था, पर उसके पास पाँच हजार रुपये और इतनेका ही जेवर था। स्टेशन मास्टरने उसे भरोसा दिलाया और वेटिंग रूममें सुला दिया। साथ ही एक भंगीको इसके लिए भी तैयार कर दिया कि वह रातमें दो बजेके बाद उसे क़त्ल कर दे !

स्टेशन मास्टरका लड़का सिनेमा देखकर सहारनपुरसे लौटा, तो पिताके डरसे घर न जा, उसी वेटिंग रूममें घुस आया और उसने उस मुसाफ़िरको बाहर निकाल दिया।

ठीक समयपर भंगी आया और अपना काम कर गया, पर मुसाफ़िरके पास न रुपये निकले, न जेवर। स्टेशन मास्टरने आकर देखा, तो उसका लड़का मरा पड़ा था और वह मुसाफ़िर बाहरके टी स्टालपर चाय पी रहा था !

वही खोटी अठन्नीकी बात कि स्टेशन मास्टरके मनमें एक बुरी वृत्ति पैदा हुई। उसने उस बुरी वृत्तिसे दूसरेको हानि पहुँचानेके लिए उसे बाहर फेंका, पर उसने बाहर आनेवालेका कोई नुकसान न कर, स्वयं उसका ही गला दबोच लिया; यानी खोटी अठन्नी फिर अपनी ही जेबमें लौट आई।

मुझे याद आगये मेरे मित्र डाक्टर व्रजमोहन गुप्त। एक बार उन्होंने बातों-बातोंमें बताया था कि स्वामी विवेकानन्दने अपनी एक पुस्तकमें बड़े मार्केकी बात लिखी है कि बिजली चौकोर चलती है और वह जहाँसे चलती है, चारों ओर घूमकर अन्तमें वहीं आ टिकती है। यही हालत हमारी मनोवृत्तियोंकी है। मान लीजिए रामूके हृदयमें श्यामूके प्रति क्रोध, घृणा या ईर्ष्याकी प्रवृत्ति पैदा हुई। वह प्रवृत्ति श्यामूको स्पर्श करेगी, प्रभावित करेगी, पर लौटकर रामूके हृदयमें ही आ समायगी। इस प्रकार उस वृत्तिसे श्यामूका कम और रामूका ही अधिक नुकसान होगा।

यह कितनी विचित्र, पर महत्त्वपूर्ण बात है कि हम जब दूसरेका अनिष्ट करनेके लिए उफनते हैं, तो अपना ही नाश कर रहे होते हैं और समझते यह रहते हैं कि हम पूरी तरह सुरक्षित हैं।

भावनाको भाषाका रूप देते हुए मैंने सोचा---किसीके लिए भी अपने मनमें कड़वाहटको, हिंसावृत्तिको, जन्म न लेने दो; भले ही वह तुम्हारा शत्रु हो, क्योंकि वह हिंसावृत्ति यदि शत्रुका नाश करेगी, तो तुम्हारा सर्व-नाश करेगी; और वह भी इस तरह कि तुम उसे पहचान भी न पाओ!

मेरे मनमें तभी एक चमत्कारी विचार आया---तो क्या अपने किसी विरोधीको क्षमा कर देना, उसपर कृपा करना नहीं, किन्तु अपनेको क्रोध और प्रतिशोधकी प्रचण्ड वृत्तियोंमें झुलसनेसे बचाना ही है?

[३]

उनकी मृत्यु हुए कई साल हो गये, पर मुझे लगा कि ठाकुर चन्दनसिंह

कहींसे मेरे पास आ बैठे हैं। कभी वे रुस्तमे हिन्द जैसे थे, पर आज हड्डि-योंके ढाँचेपर खाल मढ़ी थी। पहले जो चेहरा कपूर था, आज तवा हो रहा था। उनके होंठ आज भी हँसते थे, पर यह हँसी भी कुछ हँसी थी! पहले वे हँसते, तो लगता कि मोतियोंकी बोरी खुल गई और आज; जैसे वे अपने रोनेको खुद ही रंग रहे हों!

देखकर जी धक रह गया—"यह आपको क्या हो गया ठाकुर साहब?" मैंने पूछा, तो बोले—"मैं अपनी जलाई आगमें झुलस गया भाई साहब! आपको याद होगा कि हमारे गांवमें एक बार ननकू और बुन्दामें मनमुटाव हो गया। दोनोंके खेत पास-पास थे। फसल सोना हुई खड़ी थी। ननकू एक दिनको कहीं रिश्तेदारीमें गया, तो बुन्दाने उसके खेतमें पतंगा फेंक दिया और बुराईसे बचनेको गाँवकी चौपालपर आ बैठा। उधर हवा पलटा खा गई और आगकी लपटें बुन्दाके खेतमें आ खिलीं।

यही हाल मेरा हुआ। मेरा छोटा भाई बड़ा होनहार था। उसने बड़ी तरक्की की। आनरेरी मैजिस्ट्रेट हो गया और बड़े-बड़े अफ़सर उसके घर आने लगे। मुझसे यह बर्दाश्त न हुआ, ईर्ष्या मेरे भीतर दहक उठी। बात यह हुई कि लोग उसे मेरा छोटा भाई न कहकर, मुझे उसका बड़ा भाई कहने लगे। इसे मैंने अपना अपमान समझा और मेरे भीतर क्रोध प्रचण्ड हो उठा, पर भला मैं उसका क्या बिगाड़ सकता था। वह तो अपने गुणोंके कारण नाम पा रहा था।

मेरे भीतर हर समय आग जलती और मैं हरेकसे खाता-फाड़ता बोलता। इससे जो मेरे थे, वे भी गैर हो गये। मेरी स्त्री मुझे छोड़कर अपने पिताके घर चली गई और लड़का आवारा हो गया। मैं हर समय भाईको मिटाने-के मनसूबे बाँधता, पर खुद मिटता जाता। अन्तमें मुझे टी० बी० हो गई। छोटे भाईने मेरी बहुत सेवा की, पर उस सेवासे भी मुझे शान्ति न मिली।

में नौकरको लालच देकर अपना जूठा दूध भाईको पिला देता, जिससे उसे भी टी० बी० हो जाय, पर भाई, उसके भीतर शान्ति थी, वह फलफूलता रहा, मेरे भीतर आग थी, मैं जलता रहा और एक दिन भस्मभूत आज गया !!"

[४]

ठाकुर चन्दन सिंहकी कहानी सुनी तो मुझे याद आगई—मेरे मित्रकी पत्नी ज्ञानदेवी। वह अपनी सहेलीके प्रेमीको प्यार करने लगी। कुछ दिन तीनोंमें पूरा सद्‌भाव रहा, पर बादमें ज्ञानदेवीके मनमें यह दुर्भावना जागी कि उसे ही भोनापोली मिल जाय और उसने उन दोनोंके बीचमें जहर बोने शुरू किये। वह जहर बोती, सींचती, उसमें अंकुर भी आते, पर वे पनप न पाते।

ज्ञानदेवी अपनी असफलता देखती, उफनती, गरजती, धूल उड़ाती और हाय-हाय करती। उसका मीठा बोल, कड़वा हो गया, चेहरा रूखा हो चला और आदत लड़ाकू। वह तेजीके साथ प्रचण्ड होती गई और एक दिन उसपर गठियाका ऐसा आक्रमण हुआ कि वह लूंज हो पड़ी। वह विदुषी अपने रोगका मनोवैज्ञानिक कारण समझती थी, अपने मनको बदलनेके प्रयत्न भी करती थी, पर उसकी प्रचण्डता उसे फिर आ घेरती थी। बहुत दिनोंतक वह यों ही झटके खाती रही। पता नहीं फिर उसकी नाव किस किनारे लगी।

[५]

एक और महिलाके सम्बन्धमें मेरा निजी अनुभव है कि वह अपनी एक सहेलीसे घृणा करने लगी। यह घृणा [illegible] और इसका आश्चर्यजनक फल यह हुआ कि उस [illegible]—उसका कोमल स्पर्श रूखा होता चला गया।

उन्होंने इसके लिए विटामिनकी बहुत गोलियाँ खाईं, पर उन्हींके शब्दोंमें उनकी खाल आदमीसे हाथीकी होती गई। खालके साथ ही उनकी आकृतिपर भी इसका प्रभाव पड़ा और वे जैसे पुरुष हो चलीं। चेहरेकी सारी लुनाई जाती रही, परुषता आगई और आश्चर्यकी बात है कि उनकी हँसीकी मीठी खिलखिल एक कर्कश खाँ-खाँमें बदल गई।

बीचमें बहुत दिन उनसे मिलना नहीं हुआ, पर इसके बाद एक दिन बातचीत हुई, तो देखा कि उनकी वह परुषता अब चेहरेपर नहीं है और क्या बातचीत, क्या हँसी, सभीमें पुरानी मिठास लौट आई है।

मैंने ज़रा बचकर पूछा—"अब तो आपका स्वास्थ्य अच्छा है!"

"और इसका श्रेय आपकी दवाको है!" वे खिलकर कह उठीं, तो मैं चौंका! अत्यन्त गम्भीर होकर उन्होंने कहा—"वह सब मेरे भीतर उमड़ी घृणाकी प्रचण्ड वृत्तिका फल था। इसीलिए किसी औषधने काम नहीं किया, पर अचानक एक दिन मैंने आपकी छोटी कहानी पढ़ी—'झरना हँसा'—और बस मेरा जीवन बदल गया, मेरी घृणा पिघल गई और धीरे-धीरे मैं कोमल होती चली गई।"

जहाँ मतभेद हो, विरोध हो, झगड़ा-झंझट हो, वहाँ भी प्रेम करो, सेवा करो, सहो और यह सम्भव न हो, तो उपेक्षा करो, तटस्थ होकर वह फाइल ताकमें सरका दो, पर ईर्ष्या न करो, क्रोध न करो, घृणा न करो। ये वृत्तियाँ हृदयमें जाग ही उठें, तो उन्हें स्थायी न होने दो, प्रचण्ड न होने दो, आनेपर उन्हें छाने न दो। विवेकसे, विचारसे, सहिष्णुतासे, उन्हें दूर भगा दो, उन्हें शान्त कर दो; क्योंकि ये उस आगकी लपटें हैं, जो जलाई जाती हैं दूसरोंको फूँकनेके लिए, पर फूँकती हैं सिर्फ अपनेको ही। ये ऐसे बिष-बुझे तीर हैं, जो चलाये जाते हैं, दूसरोंका संहार करनेके लिए, पर चारों ओर घूमनेके बाद ये काटते हैं उसी हाथको, जिसका बल पा धनुषसे छूटते हैं।

एक था पेड़ और एक था ठूँठ !

जिस मकानमें मैं ठहरा, उसकी खिड़कीके सामने ही खड़ा था एक पूरा पनपा बाँझका पहाड़ी पेड़। पलंगपर लेटे-लेटे वह यों दीखता कि जैसे कुशल-समाचार पूछनेको आया कोई मेरा ही मित्र हो।

एक दिन उसे देखते-देखते इस बातपर मेरा ध्यान गया कि यह इतना बड़ा पेड़ हवाका तेज झोंका आते ही पूराका पूरा इस तरह हिल जाता है, जैसे बीनकी तानपर कोई साँप झूम रहा हो और इसका ऊपरका हिस्सा हवा जब और भी तेज हो जाती है, तो काफी झुक जाता है, पर हवाके हल्का पड़ते ही वह फिर सीधा हो जाता है।

हवा मौजमें थी, अपने झोंकोंमें झूम रही थी, इसलिए बराबर यही क्रिया होती रही और मैं उसे देखता रहा। देखता क्या रहा, उसकी झूक-झूममें रस लेता रहा। पड़े-पड़े वह पेड़ पूरा न दीखता था, इसलिए मैं पलंगसे खिड़कीपर आ बैठा। अब मुझे वह पेड़ जड़से फुंगलतक दिखाई देने लगा और मेरा ध्यान इस बातकी ओर गया कि हवा कितनी भी तेज हो, पेड़की जड़ स्थिर रहती है—हिलती नहीं है।

यहीं बैठे, मेरा ध्यान एक दूसरे पेड़पर गया, जो इस पेड़से काफी निचाई-में था। पेड़ क्या था, पेड़का ठूँठ था—ठूँठ; सूखा वृक्ष और सूखा वृक्ष माने निर्जीव-मुर्दा वृक्ष। सोचा—यह वृक्षका कंकाल है; जैसा एक दिन सभीको होना है! अब मैं कभी इस हरे-भरे पेड़की ओर देखता, कभी उस सूखे ठूँठकी तरफ। यों ही देखते-भालते मेरा ध्यान इस बातकी ओर गया कि हवा धीमे चले या वेगसे, यह ठूँठ न हिलता है, न झुकता है।

न हिलना, न झुकना; मनमें यह दो शब्द आये और मैंने आप ही आप इन्हें अपनेमें दो[illegible] न झुकना।

दूर अन्तरमें कुछ स्पर्श हुआ, पर वह स्पर्श सूक्ष्म था; यों ही संकेत-सा। शब्द चक्कर काटते रहे—न हिलना, न झुकना और तब आया यह वाक्य—न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका, दृढ़ताका चिह्न है और वह वीर पुरुष है, जो न हिलता है, न झुकता है।

तभी मैंने फिर देखा उस ठूँठकी ओर। वह न हिल रहा था, न झुक रहा था! मनमें अचानक प्रश्न आया—न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका चिह्न है, पर इस ठूँठमें जीवन कहाँ है? यह तो मुर्दा पेड़ है!

अब मेरे सामने एक विचित्र दृश्य था कि जो जीवित था, वह हिल रहा था और जो मृतक था वह न हिल रहा था, न झुक रहा था। तो न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका चिह्न हुआ या मृत्युकी जड़ताका?

अजीब उलझन थी, पर समाधान क्या था? मैं दोनोंको देख रहा था, देखता रहा और तब मेरे मनमें आया कि जो परिस्थितियोंके अनुसार हिलता-झुकता नहीं, वह वीर नहीं, जड़ है; क्योंकि हिलना और झुकना ही जीवनका चिह्न है।

हिलना और झुकना; अर्थात् परिस्थितियोंसे समझौता। जिस जीवनमें समझौता नहीं, समन्वय नहीं, सामंजस्य नहीं, वह जीवन कहाँ है? वह तो जीवनकी जड़ता है; जैसे यह ठूँठ और जैसे यह पहाड़का शिखर।

मुझे ध्यान आया कि जीते-जागते जीवनमें भी एक ऐसी मनो-दशा आती है, जब मनुष्य हिलने और झुकनेसे इंकार कर देता है। अतीतमें रावण और हिरण्यकश्यप इस दशाके प्रतीक थे, तो इस युगमें हिटलर और स्टालिन, जो केवल एक ही मतको सही मानते रहे और वह स्वयं उनका ही मत था। आजकी भाषामें इसीका नाम है डिक्टेटरी-अधिनायकता।

विश्वकी भाषा है—दे, ले।

विश्वकी जीवन-प्रणाली है—कह, सुन।

विश्वकी यात्राका पथ है—मान, मना।

इन तीनोंका समन्वय है—हिलना-झुकना और समझौता-समन्वय। जिसमें यह नहीं है, वह जड़ है; भले ही वह उस ठूँठकी तरह निर्जीव हो या रावणकी तरह जिद्दी!

मेरी खिड़कीके सामने खड़ा हिल रहा था बाँसका विशाल पेड़ और दूर दीख रहा था वह ठूँठ। समयकी बात; तभी पासके घरसे निकला एक मनुष्य और वह अपनी छोटी कुल्हाड़ीसे उस ठूँठका एक छोटा टहना काटने लगा। सामने ही दीख रही थी सड़क, जिसपर अपनी कुदालसे काम कर रहे थे कुछ मजदूर।

कुल्हाड़ी और कुदाल; कुदाल और कुल्हाड़ी—मैंने बार-बार उन शब्दोंको दोहराया और तब आया मेरे मनमें यह वाक्य—विश्वकी भाषा है—दे, ले; विश्वकी जीवन-प्रणाली है कह, सुन; विश्वकी यात्राका पथ है—मान, मना; अर्थात् हिल भी और झुक भी, पर जो इन्हें भूलकर जड़ हो जाता है, वह ठूँठ हो, पर्वतका शिखर हो, अहंकारी मानव हो, विश्व उससे जिस भाषामें बात करता है उसीके प्रतिनिधि हैं ये कुल्हाड़ी-कुदाल।

साफ़-साफ़ यों कि जीवनमें दो भी, लो भी, कहो भी, सुनो भी, मानो भी, मनाओ भी; और यह सब नहीं, तो तैयार रहो कि तुम काट डाले जाओगे, खोद डाले जाओगे, पीस डाले जाओगे!

मैं खिड़कीसे उठकर अपने पलंगपर आ पड़ा। बाँसका पेड़ अब भी हिल रहा था, झुक रहा था झूम रहा था, पर तभी मेरे मनमें उठा एक प्रश्न—तो क्या जीवनकी चरितार्थता बस यही है कि जीवनमें हवाका झोंका आया और हम हिल गये? जीवनमें संघर्षका झटका आया और हम झुक गये? साफ़-साफ़ यों कि क्या यहाँ-वहाँ हिलते-झुकते रहना ही महत्त्वपूर्ण है और जीवनकी स्थिरता-दृढ़ता जीवनके मनकी सत्य ही हैं?

प्रश्न यह है, कम्बख्त बिजलीका तेज शॉक है यह, जो यों धकियाता है कि एक बार तो जड़से ऊपरतक सब पाया-संजोया अस्तव्यस्त हो उठे। सोचा—नहीं जी, यह हिलना और झुकना जीवनकी कृतार्थता नहीं, अधिकसे अधिक यह कह सकते हैं कि विवशता है। जीवनकी वास्तविक कृतार्थता तो न हिलना, न झुकना ही है, यानी दृढ़ रहना ही है—"मन्त्रियम ओ मरियम, पी ट्रियम नहीं।"

मैं अपने पलंगपर पड़ा देखता रहा कि बाँझका पेड़ झुक रहा है, झूम रहा है, हिल रहा है और दूरपर खड़ा ठूँठ न हिलता है, न झुकता है। जीवन है वृक्षमें, जो जीवनकी कृतार्थता-दृढ़तासे हीन है और वह दृढ़ता है ठूँठमें, जो जीवनसे हीन है; अजीब उलझन है यह !

तभी हवाका एक तेज झोंका आया और बाँझ हिल उठा। मेरी दृष्टि उसकी झूमती देह-यष्टिके साथ रपटी-रपटती उसकी जड़तक चली गई और तब मैंने फिर देखा कि हवाका झोंका आता है, तो टहनियाँ हिलती हैं, तना भी झूमता है, पर अपनी जगह जमी रहती है उसकी जड़। हवाका झोंका हल्का हो या तेज, वह न झुकती है, न झूमती है।

अब स्थिति यह कि कभी मैं देख रहा हूँ स्थिर जड़को और कभी हिलते-झूमते ऊपरी भागको। लग रहा है कि कोई बात मनमें उठ रही है और वह उलझनको सुलझानेवाली है, पर वह बात क्या है ?

बात मनकी तहसे ऊपर आ रही है—ऊपर आगई है।

बात यह है कि हमारा जीवन भी इस वृक्षकी तरह होना चाहिए कि उसका कुछ भाग हिलने-झुकनेवाला हो और कुछ भाग स्थिर रहनेवाला, यही जीवनकी पूर्ण कृतार्थता है।

बात अपनेमें पूर्ण है, पर जरा स्पष्टता चाहती है और वह स्पष्टता यह है कि हम जीवनके विस्तृत व्यवहारमें हिलते-झुकते रहें, समन्वयवादी

रहें, पर सत्यके, सिद्धान्तके प्रश्नपर हम स्थिर रहें, दृढ़ रहें और टूट भले ही जाएँ, पर हिलें नहीं, समझौता करें नहीं।

जीवनमें देह है, जीवनमें आत्मा है। देह है नाशशील और आत्मा है शाश्वत, तो आत्माको हिलना-झुकना नहीं है और देहको निरन्तर हिलना झुकना ही है; नहीं तो हम हो जाएँगे रामलीलाके रावणकी तरह, जो बाँसकी खपच्चियोंपर खड़ा रहता है—न हिलता है, न झुकता है। हमारे विचार लचीले हों, परिस्थितियोंके साथ वे समन्वय साधते चलें, पर हमारे आदर्श स्थिर हों। हमारे पैरोंमें जीवनके मोर्चेपर डटे रहनेकी भी शक्ति हो और स्वयं मुड़कर हमें उठने-बैठने-लेटनेमें मदद देनेकी भी।

■ संक्षेपमें जीवनकी कृतार्थता यह है कि वह दृढ़ हो, पर अड़ियल न हो।

■ दृढ़, जो औचित्यके लिए, सत्यके लिए टूट जाता है, पर हिलता और झुकता नहीं।

■ अड़ियल, जो औचित्य और अनौचित्य, समय-असमयका विचार किये बिना ही अड़ जाता है और टूट तो जाता है, पर हिलता-झुकता नहीं।

■ दो टूक बात यों कि जीवन वह है, जो समयपर अड़ भी सकता है और समयपर झुक भी, पर ठूँठ वह है, जो अड़ ही सकता है, झुक नहीं सकता।

■ एक है जीवन्त दृढ़ता और दूसरा निर्जीव जड़ता।

■ हम दृढ़ हों, जड़ नहीं।

मैंने देखा—बाँझका पेड़ अब भी हिल रहा था, झुक रहा था और ठूँठ अनझुका, अनहिला, ज्योंका त्यों खड़ा था।

लीजिए, आदमी बनिए !

"कहो भाई आजकल क्या ठाठ हैं ?"

"ठाठ ? अरे भाई, ठाठ होंगे ठाठ वालोंके; यहाँ तो आज टाट ही टाट है।"

"टाट ही सही, पर तुम्हारा गला क्यों सूख रहा है ? तुम तो इस तरह कह रहे हो, जैसे ठाठ तो होती है कोई बड़ी चीज और टाट होता है यों ही कूड़ा-कच्चर। भाई जान, टाट मानें जूट और जूट हमारे देशका एक खास उद्योग है। खैर, छोड़ो यह पहेली-बुझौवल और यह बताओ कि तबीयत टाइट क्यों है और लो छोड़ो तबीयतको भी सिर्फ़ यह बताओ कि यों टूलते-भूलते तुम आ कहाँसे रहे हो ?"

"भैया, स्टेशनसे आ रहा हूँ।"

"अच्छा जी, तो अब क़ैंची-कमीशनके मेम्बर हो गये हो तुम, पर याद रखना एक दिन सरकारी गाड़ीमें बड़े घर जाओगे। यों घूर क्यों रहे हो ? लो, हम अपनी बात वापस लेते हैं। यह कोई पुराना जमाना थोड़ा ही है कि जब तलवारका घाव भर जाता था, बातका नहीं। यह नई रोशनी है कि सॉरी कहते ही बात खत्म हो जाती है। लो, [illegible] मेम्बरीसे भी तुम्हें बरी कर दिया, अब तुम साफ़ [illegible] स्टेशन क्यों गये थे और वहाँसे लटके-भटके क्यों आ रहे हो ?"

"दिल्ली जानेको स्टेशन गया था, पर गाड़ी नहीं मिली और गाड़ी क्या नहीं मिली, टिकट ही नहीं मिला। बात यह हुई कि मेलेके कारण भीड़ बहुत थी और क्यू बन नहीं पाया। मैं अपनी आदमियतसे मजबूर, एक तरफ़ खड़ा रहा कि क्यों धक्का-मुक्की करूँ; बस गाड़ी छुक-छुक कर गई और मेरा नंबर ही नहीं आया !"

"तो बाबूने टिकट बाँटना देरीसे आरम्भ किया होगा। तुमने उसकी गर्दनपर मालिश क्यों नहीं की?"

"जी, मुश्किल यह है कि उसकी गर्दन और मेरी भुजाके बीचमें सम-झदार अक्लमन्दोंने नाम लेकर कोहिनूर एक मजबूत जंगला लगा दिया है; वरना आपके उपदेशके अनुसार गर्दनकी मालिश तो होती-न-होती उसके पसेकी पालिश हो चुकी होती। वैसे सच्चाई यह है कि उस बेचारेको मालिश-पालिशका यह मौक़ा ही न था, क्योंकि जब यात्री लोग गाड़ीके छूटनेका समय होनेके बाद ही पहुँचनेकी आदत रखते हों, तो उसका समयसे काम करना, क्या काम दे?"

"ठीक है, तो बाबूजी बेक़सूर थे और यह खुद तुम्हारा क़सूर है कि गाड़ी चलती-फिरती नजर आई, पर तुम खम्भे-से नहीं खड़े रहे।"

"जी, तो आदमी बननेकी कोशिश करना, आदमियतसे काम लेना भी अब क़सूर हो गया?"

"माफ़ कीजिए भाई साहब, आप दूसरेके बोल मेरे मुँहमें रख रहे हैं। मैंने यह नहीं कहा कि आदमी बननेकी कोशिश करना क़सूर है। मेरा भाव तो यह है कि इस नये युगमें पुरानी आदमियतसे काम लेना क़सूर है और जाने दीजिए क़सूरकी बात, उससे अब सफलता नहीं मिल सकती, जैसाकि आपको नहीं मिली। ठीक भी है; दिसम्बर-जनवरीमें तीन-सेरा लिहाफ़ न ओढ़ो, तो निमूनिया निमन्त्रणकी प्रतीक्षा किये बिना ही फेफड़ोंकी खिड़कियोंमें आ झाँकता है; पर वही लिहाफ़ मई-जूनमें ओढ़ा जाय, तो पाँच मिनटमें स्टीम बाथका मजा आ जाता है।"

"तो भले आदमी, आदमियत भी नई पुरानी होती है?"

"जी हाँ, ज़माना नया तो आदमियत नई और आदमियत नई, तो आदमी बननेके नुस्खे नये। मैं न पुराने ज़मानेका तीमारदार हूँ, न इस

जमानेका सामर्थ्य, फिर भी कभी और कहीं आपत्ति नहीं आता—बताओ कभी चूकता है निशाना ? किसीकी बही देख लो या किसीका लेजर, हमारा नाम अच्छे आदमियोंमें लिखा मिलेगा और यह सब कोई चमत्कार नहीं है, जादू नहीं है, सिर्फ़ आदमी बननेके नये नुसखोंका असर है।"

"तो भाई, हमें भी बताओ आदमी बननेका नया नुसखा, आज तो जो बीती, सो बीती, पर फिर तो न बीते।"

"बहुत अच्छा, अगर आप हमें गुरु बनानेपर उतारू हो गये हैं, तो ज़रूर बाँधेंगे आपको कंठी और कंठी क्या, लीजिए आपकी दीक्षा ही हम टिकट खरीदनेके महामन्त्रसे आरम्भ करते हैं।

टिकट खरीदते समय आदमी बननेका पुराना नुसखा तो वह था, जो तुमने आजमाया, पर यह नया नुसखा वह है, जो एकबार सोमवती अमा-वस्यापर मैंने आजमाया था। गर्मीका मौसम और सोमवतीका स्नान, भला फिर हरद्वार जानेको किसका जी है, जो जाऊँ-जाऊँ न करे और हम तो ठहरे पुरुष, जी पर जब्त भी कर लें, पर श्रीमतीजीको रोकना, तो गंगाकी धारको रोकना-टोकना है। खैर साहब, हम पहुँच गये स्टेशन, पर टिकट-घरकी खिड़कीपर जो ध्यान गया, तो सच मानिए कुरुक्षेत्रका दृश्य दिखाई दिया—धक्कम-धक्का तो था ही, धमाधमी भी थी और शोर-शराबा भी। दूरसे देखो, तो लगता था कि अच्छी-खासी रस्साकशी हो रही है।

सामानके पास [illegible] खिड़कीकी तरफ़, खिड़कीपर पहुँचना [illegible] दूसरी खिड़कीपर जा टिके। वहाँसे वह बाबू दिखाई देता था और भीड़ भी दूर न थी। बाबू लगा हो, [illegible] जल्दी टिकट दिये हैं और भीड़ हो तो देर लगती ही है। लोगोंने [illegible] समझा और २-४ उसी तरफ

गरम बोल बोले। बस मेरे लिए यही अवसर था कि अपना नया नुसखा पिलाऊँ और आदमी बनकर काम साधूँ।

मैंने ऊँची आवाजमें कहा—भाइयो, भीड़, तो तुम खुद करते हो और क़सूर बताते हो बाबूजीका, यह अजीब बात है। वे बेचारे खाली बैठे सिगरेट तो नहीं पी रहे, काम ही कर रहे हैं। सुबहसे काममें जुटे हैं, खड़े-खड़े पैरोंमें खून उतर आता है ज़रा इसपर भी तो ध्यान दो।

मैंने देखा, टिकट बाबूके मनपर मेरी बातका यह असर हुआ कि वे प्रसन्न हुए। तभी मैंने उनकी ओर देखकर कहा—बाबूजी, आप लोगोंकी बातका बुरा न मानें। बात यह है कि अब सरकार जनताकी है, इसलिए जनताके लोग सरकारी आदमियोंको अपने घरका ही आदमी समझते हैं और बाबूजी, अपनोंके लिए तो गुस्सा भी प्यार होता है।

मैंने देखा कि भीड़पर भी मेरी बातका अच्छा असर पड़ा और रेल-पेल ज़रा कम हो गई।

थोड़ी देर बाद ज़रा फिर तेजी आई तो मैंने ऊँची आवाजमें कहा—भाइयो, बाबूजी हवाकी तरह टिकट दे रहे हैं। घबराओ मत, सबको टिकट मिल जायगा और किसीकी गाड़ी नहीं छूटेगी।

भीड़में शान्ति आ गई और बाबूजीने मेरी तरफ़ नरम आँखोंसे देखा तो मैंने उसी खिड़कीसे रुपये भीतर डालकर अंगुलियोंके इशारेसे दो टिकट माँगे और वे मुझे मिल गये। लोग अब भी ठुने-से खड़े थे और मैं श्रीमतीजीके साथ भीतर प्लेटफ़ार्मपर आ गया था।

यह है भाईजी, आदमी बननेका नया नुसखा कि बाबूजी भी खुश, जनता भी खुश और हम भी खुश—आमके आम, गुठलीके दाम। भीड़ भी मान गई कि कोई आदमी है और बाबूजी भी। कहो मानते हो या नहीं ?"

"मान गये साहब, न माननेकी इसमें गुंजायश कहाँ है, पर—"

"पर-वर इसमें कुछ नहीं, बस पर इतना ही है कि इस नुसखेका अदल-बदलकर पिया-पिलाया जाता है। यह हकीम पन्नालालका बनफ्शा नहीं कि हमेशा उसमें बताशे ही डाले जाएँ, इसमें कभी बताशे पड़ते हैं, तो कभी मिश्री और कभी गुड़।

यों टुकुर-टुकुर क्या घूर रहे हो मुझे ? लो मिश्री, बताशे और गुड़का भेद समझाता हूँ तुम्हें। उस दिन प्रदर्शिनी देखने जा रहे थे। स्टेशन आये तो टिकट-घरपर भीड़। सोमवतीवाली भीड़ नहीं, समझदार भीड़—क्यूमें खड़ी, पर मुसीबत यह कि क्यू इतना लम्बा कि उसमें खड़े हों, तो हमारा नम्बर चालीसवाँ। हम सीधे खिड़कीके पास पहुँचे और ऊँची आवाजसे क्यू वालोंसे कहा—भाइयो, मैं मजबूरीमें आपका नम्बर ले रहा हूँ। ऐसा करना मेरा हक़ नहीं है। यह आपकी मेहरबानी है। आपका समय कुछ मुझसे कम क़ीमती नहीं है। वे पसीज जाते हैं और मैं बेनम्बर ही टिकट ले, मुसकराता हुआ चला आता हूँ। इस नुसखेका मोल यह नहीं है कि टिकट मुझे पहले मिल गया, पर यह है कि उन्हें बेवकूफ बनानेपर भी वे मुझे एक आदमी मान लेते हैं—जी हाँ, एक आदमी।"

"आपके यह टिकट ख़रीदनेके नुसखे तो सचमुच हकीम पन्नालालके नुसखोंसे भी ज्यादा रामबाण हैं, पर. . . ।"

"फिर वही पर, पर-वर इसमें कुछ नहीं, सिर्फ पर इतना है कि ये नुसखे टिकट ख़रीदनेके नहीं, आदमी बननेके हैं। यह बहुत बारीक भेदकी बात है। राजा भोजका समय होता, तो इस भेदकी बातपर सोनेकी सैकड़ों मोहरें बरस पड़तीं, पर लो, तुम्हें बिना दक्षिणाके ही यह भेद बता रहा हूँ। बात यह है कि हर आदमी दूसरे आदमीको अपनेसे हीन समझता है। अब आवश्यकता यह है कि हमारी शान और काम ऐसे हों कि वह हमें श्रेष्ठ मानें। इसका नाम है आदमी बनना, तो अवसर टिकट ख़रीदनेका हो या

किसी और बातका, खास बात है जादूकी बनना, अपनी श्रेष्ठताका सिक्का दूसरेके दिलपर बैठाना। बस, इतना यही और समझ लो कि श्रेष्ठताका यह सिक्का कभी तो बैठता है चरित्रकी ऊँचाईसे और कभी उपयोगितासे। कहो, है न गहरे भेदकी बात ?"

"हाँ, बात तो वाकई गहरे भेदकी है, पर हमारी समझमें यह भेद अभी बैठा नहीं है। तुम एक-दो अनुभव और सुनाओ, तो काम चले।"

"अनुभव ? अनुभव एक दो नहीं, एक-सौ सुनो अनुभव भी एक-से-एक और एक-सौ-एकको। अपनी ही बात कहे जाना ठीक नहीं है, इसलिए आप-बीतीके बाद जगबीतीका भी एक नमूना लो—

ठाकुर शीशरामसिंहको तो तुम जानते हो ? हाँ, हाँ, वे ही नगलीकलाँ वाले। क्या राय है तुम्हारी उनके बारेमें ? लो, अपने प्रश्नका उत्तर भी मैं ही दिये देता हूँ कि बहुत अच्छे आदमी हैं और यह तुम्हारी-मेरी ही राय नहीं, सारे इलाकेकी राय है। अब मैं पूछता हूँ तुमसे कि क्या उनके चरित्रमें कोई ऐसी ऊँचाई है कि सारी दुनिया उनका मान करे, उन्हें आदमी माने ? आपका जवाब है नहीं और यही जवाब है मेरा भी, तो बस यह सब आदमी उनके नुसखोंका ही असर है। आपको याद होगा हकीम पन्नालाल बहुत साफ-सुथरे कागजपर नुसखे लिखा करते थे, ठाकुर शीशरामसिंह भी बहुत सफाईसे नुसखे लिखते हैं, पर खास बात यह है कि न उसमें होता है चिरायता, न गिलोय, न सौंफ, न अजवायन; उसमें होता है नमस्ते और भवदीय।"

"नुसखेमें नमस्ते और भवदीय होता है ?"

"हाँ जी, नुसखेमें नमस्ते और भवदीय होता है और लो, उलझनेकी कोई बात नहीं; बात है सिर्फ यह कि १९४२ में एक फरार क्रांतिकारी छिपकर उनके यहाँ रहा था। अब वह पहुँच गया एक ऊँचे पदपर और उनका लिहाज

करता है। उसके कारण इनकी ओर भी चार बड़े आदमियोंसे जान-पहिचान हो गई है। अब ठाकुर साहब इन्हीं लोगोंके नाम सिफारिशी खत लिखा करते हैं। किसीका मुकदमा हो या परमिट, पासपोर्ट हो या मेम्बरी, बेटेकी नौकरी हो या बेटीका रिश्ता, ठाकुर साहबका खत ले जाइए—वे खत देनेसे कभी इन्कार न करेंगे। बस ठाकुर साहब सबके लिए आदमी बने हुए हैं।"

"तो उनके खतसे सबका काम बन जाता है ?"

"भाई जी, मैं बता रहा हूँ तुमको आदमी बननेके नुसखे और तुम बने जा रहे हो चुकन्दर खान। अरे मियाँ, सबके सब काम तो ईश्वर भी नहीं कर सकता, फिर आदमी क्या चीज है, सोचो तो! इन पत्रोंमेंसे कुछ तो रद्दीकी टोकरीमें फेंक दिये जाते हैं और पत्र ले जानेवालोंकी बात भी कोई नहीं पूछता, कुछका यह असर होता है कि पत्र लानेवालोंकी बात सुन ली जाती है और उन्हें तत्काल आश्वासन मिल जाता है—भले ही आगे जाकर नाव डूब जाय, और कुछका काम हो जाता है—शायद पत्र न ले जानेपर भी वह हो जाता, पर रहस्य यह है कि ठाकुर साहबको किसीके काम होने या न होनेसे कोई मतलब ही नहीं, वे तो आदमी इसलिए बन गये हैं कि सबकी बात हमदर्दीसे सुनते हैं और सबकी मददको तैयार रहते हैं। फिर जिन-जिनकी बात कुछ पूछ ली जाती है या जिनका काम हो जाता है, वे तो ठाकुर साहबके कारण हो ही जाते हैं, पर जिनकी बात नहीं पूछी जाती और वे लौटकर शिकायत करते हैं, तो ठाकुर साहब समयका रोना रो देते हैं कि इस आदमी पर इतने एहसान किये हैं, पर अब बड़ा आदमी बन गया, तो दिमाग ही नहीं संभलता उसका! ठाकुर साहबका नुसखा कामयाब है या नहीं ?"

"वाह साहब वाह, यह तो आपने गजबकी बात सुनाई।"

"इसमें न कुछ गजब है, न अजब, हाँ, बात जरूर है और बात भी है नुसखेकी और नुसखा भी कोई ऐसा-वैसा नहीं, आदमी बननेका है। यह

नुसखा बहुत लोग जानते हैं, पर इसे सब अपने-अपने ढंगपर बाँधते हैं, यही इसकी विशेषता है। हनुमानजी की बगीचीमें जो स्वामीजी रहते हैं, वे इसे एक तीसरे ही रूपमें प्रयोग करते हैं। उनके बारेमें मशहूर है कि अफ़सरोंपर उनका बहुत असर है। बस मुक़दमेवाले उन्हें घेरे रहते हैं और मजा यह कि दोनों पक्षवाले उनसे मदद चाहते हैं। वे दोनोंको आश्वासन दे देते हैं, पर उन्होंने एक बार भी कभी किसीकी सिफ़ारिश नहीं की—हारनेवाला हार जाता है और जीतनेवाला जीत जाता है।"

"तब तो उनका नुसखा फेल रहा, क्योंकि हारनेवाला तो उन्हें गाली देता ही होगा भाई साहब?"

"प्रश्न तुम्हारा ठीक है, पर क़तई बे-ठीक है; क्योंकि तुम मनोविज्ञान पढ़े ही नहीं हो। अरे भाई, जो हार गया, वह दुखसे इतना दब जाता है कि उसे स्वामीजीकी चर्चा करनेकी कहाँ फ़ुरसत? और जो जीत गया, वह उत्साहमें है, चार जगह मुक़दमेकी बात करता है, तो स्वामीजीकी वन्दना हो ही जाती है और यों स्वामीजी आदमी बने रहते हैं आज भी कल भी।

सच्चाई यह है कि इस मामलेमें तिनकी ओट पहाड़ है। लो, उठते-उठते तुम्हें अपना ही एक नुसखा पिलाता हूँ। जब मैं किसी दूकानमें कोई सामान खरीदता हूँ और दूकानदार सामान तोलने लगता है, तो दूसरी तरफ़ मैं इस तरह मुँह फेर लेता हूँ; जैसे मैं उसे देख ही नहीं रहा, पर कन-अँखियोंसे उसे देखता रहता हूँ। अब जो उसने नीता तोल दिया, तो ठीक, पूरा तोल दिया, तब भी कोई बात नहीं, पर डण्डी खिंची देखी, तो कहता हूँ—लालाजी, आपके तो हाथ ही तुले हुए हैं और फिर जरा कम भी तुल गया तो क्या है, यहाँ भी आपका है, वहाँ भी आपका है और बस मैं देखता हूँ कि डण्डी नीं गई है। इस तरह सामान भी मुझे पूरा मिल जाता है और मैं दूकानदारकी निगाहमें आदमी भी बन जाता हूँ।

अब आया तुम्हारी समझमें नये ज़मानेकी आदमीयतका नुसखा?"

अजी, होना-हवाना क्या है ?

जीवनमें कभी-कभी कुछ ऐसी घड़ियाँ भी आती हैं, जब किसी काममें जी नहीं लगता। न सिलसिलेसे कुछ सोचनेको जी चाहता है, न पढ़नेको और न कुछ करनेको। तन चाहे बहुत थका न हो, पर मन थका रहता है।

तन थका हो, तो नींद उसकी अचूक दवा है, पर इन घड़ियोंमें नींद भी नहीं आती। दिल और दिमागपर मायूसीका अजीब साया-सा पड़ा रहता है। आमतौरपर ऐसा तब होता है, जब आदमीके सामने कोई ऐसा मसला पेश होता है कि वह उसे हल नहीं कर पाता और मजबूरी यह होती है कि बिना हल किये बैठा जा नहीं सकता; तो आदमी इस उधेड़-बुनमें कि फिर होगा क्या ? तब वह सोचते-सोचते इतना थक जाता है कि अब सिलसिलेसे सोचना भी उसके बसका नहीं रहता।

औरोंका भी ऐसा हाल होता होगा; क्योंकि यह कोई पेटेन्ट प्रयोग तो है नहीं कि मेरी ही मिलकियत हो और वे इसका कुछ इलाज भी करते होंगे, पर मुझे उसकी कोई दवा अभीतक मालूम नहीं हो सकी। हाँ, एक बात जरूर है कि इन घड़ियोंमें अगर कहीं किस्मतसे बच्चा मिल जाएँ, तो पाँच-सात मिनटोंमें ही यह मायूसी छूमन्तर हो जाती है और तन-मनका थकान उतर-सा जाता है। तभी तो हम लोग कभी-कभी हँसीमें उन्हें बच्चा सिपाही कहकर, उनके प्रति अपने मनका सम्मान प्रदर्शित किया करते हैं।

जिन्हें मायूसीका यह दौरा-सा उठता है और [illegible] उठता होगा, वे सब चाहेंगे कि मैं बच्चोंका नुसखा उन्हें बता दूँ और वे भी केमिस्ट [illegible] फायदा उठायें, पर बता

दूँ क्या खाक ! चचा न डाक्टर हैं, न हकीम, न वैद्य। यहाँतक कि वे झाड़-फूँक करनेवाले ओझा भी नहीं कि उनका तावीज ही भिजवा दूँ।

"फिर क्या हैं वे ?"

यह एक मुनासिब सवाल है। चचा अलताफुर्रहमान एक उर्दू अखबारके ऐडीटर हैं। उम्र कोई साठ साल होगी। हमारे शहरमें अगर आप देखें कि पानोंसे मसूड़े रँगे, एक पुराने अचकनसे तन ढके, सफ़ेद बालोंको मेंहदीसे लाल किये और टूटे फ्रेमके सफ़ेद चश्मेसे झाँकती आँखोंको बरेलीके सुरमेसे आँजे, अपनी पुरानी तुर्की टोपीको जरा-सा बाँकपन दिये, एक बूढ़े मियाँ कहीं अपनी छड़ीको टेकते चले जा रहे हैं, तो समझ लीजिए कि वे हमारे चचा हैं और बस बिना तकल्लुफ़ आप उनसे बातें कीजिए, चाहें तो उनका नुसखा भी पूछिए। शरमाने या सकुचानेकी जरूरत नहीं, क्योंकि हमारे साथ ही वे आपके भी तो चचा हैं !

"जी, हमारे चचा कैसे ? हमसे तो उन बिचारोंकी कभी दीद-शनीद भी नहीं हुई ?"

ठीक है, आप यह कह सकते हैं और मुझपर नाराज भी हो सकते हैं, पर असलमें नाराजीकी कोई बात नहीं। मेरे पिता जी उन्हें चचा कहा करते थे, मेरे चचा तो वे हैं ही और मेरे बच्चे भी उन्हें चचा कहा करते हैं। असलमें वे जगत चचा हैं और आप भी हैं इस जगत्के ही निवासी, लिहाजा इस हुलियेसे उन्हें पहचानकर आप उन्हें अपना भी चचा मान सकते हैं और उनसे मायूसी दूर करनेका नुसखा पूछ सकते हैं।

और कहा तो मैंने अभी आपसे कि वे एडीटर हैं, हकीम-वकीम नहीं। फिर भी मेरा हवाला देकर आप उनसे नुसखा पूछ सकते हैं। जानते हैं आप, वे क्या कहेंगे ? सुनते ही जोरसे क़हक़हा लगाएँगे, दो-चार इधर-उधरकी बातें सुनाएँगे और अन्तमें कहेंगे—"यह है तुम्हारा मसला ?

हूँ:, पिद्दी न पिद्दीका शोरबा, सिर्फ़ सायेका भूत है मियाँ, सायेका भूत; इसमें होना-हवाना क्या है ?" लीजिए आपसे छिपाना क्या है, बस यही उनका नुस्खा है।

बात यह है कि चचाकी इन बातोंमें कुछ ऐसा असर होता है कि मन बदल जाता है, बदल क्या बस बहल जाता है और एक ऐसी ताजगी मनमें उभरती है कि सामनेके झमेलेसे लड़नेकी ताक़त मिल जाती है।

मान लीजिए आप किसी मसलेसे परेशान हैं और चचा आ गये। आपने उनसे कहा—"चचा, मेरा तो दिल बुझा जा रहा है, आखिर क्या होगा इस मामलेमें।" तो वे पहले ज़रा मुसकराएँगे और तब कहेंगे—"अरे भाई, इसमें होना-हवाना क्या है, दिलका दिया बुझा जा रहा है, तो उठकर उसमें तेल डालो, यानी कुछ पियो !"

"क्या पियें चचा ?" आप पूछ बैठे, तो वे फिर मुसकराएँगे और तब इस तरह कहेंगे जैसे कोई बड़ी गम्भीर बात कह रहे हैं—"अरे भाई, पियें क्या, वही तीन तोले अफ़ीम और तीन छटाँक तेल; बस मामला साफ़ !"

इसके बाद बच्चोंकी तरह मुँह बनाकर खिसियाएँगे और फरमाएँगे—"वाह साहब, इस दुनियामें इतनी पीनेकी चीजें हैं कि सिर्फ़ उर्दूमें ही उनके नाम लिख दूँ, तो मेरा अखबार भर जाए—क्या समझे जनाब, पूरे चार पेज और आप पूछ रहे हैं कि क्या पियें चचा ? अरे साहब, तन्दुरुस्तीके लिए पीनेको गंगा-जमनाके इलाकेमें दूध और मारवाड़में प्यास बुझानेको पानी मिले या न मिले, मायूसी दूर करनेकी दवाका इन्तजाम हुकूमतने हर जगह कर रक्खा है और वह अगर कहीं चूक भी गई है, तो हमारे पण्डे-पुजारियोंने अपने-अपने मन्दिरोंमें बूटी-घोटेका प्रबन्ध करके उस कमीको पूरा कर दिया है। इसपर भी आपकी आँखें नहीं खुलतीं, तो भला हो इन कम्पनीवालोंका। बेचारोंने छोटी-छोटी बस्तियोंकी दुकानोंतकपर चायकी पुड़ियें भेज दी हैं।

एक प्याला गलेसे उतारो कि खुमार आये और बस मायूसी बन हू थी। अब बैठो किसी हँसमुखके साथ और दो-चार मिनट जोड़ो गप्पें, बस दिल और दिमाग़ ताज़ा। अब आप चाहें कुछ लिखिए-पढ़िए, बाज़ारसे घरका सामान लाइए या जिस मसलेमें उलझे हैं, उसे सुलझानेको निकल पड़िए। बाहर-भीतरकी इस ताज़गीमें आप उल्टे-सीधे चार हाथ मारेंगे, मामला सुलझ जाएगा और होना-हवाना क्या है ?"

यह है चच्चा बिमटोंका वह नुस्ख़ा, जो मायूसी और परेशानीपर कभी बेकार नहीं जाता। मैं बरसों यह समझता रहा कि चच्चा हँस-हँसाकर आदमीका दिल बहला देते हैं, पर उस दिन मैंने जाना कि चच्चाका नुस्ख़ा, तो अपनेमें ज़िन्दगीकी एक फ़िलासफ़ी लिये हुए है।

"ओः हो, तो आपको अपने चच्चाके इस नुस्ख़ेमें ज़िन्दगीकी एक फ़िलासफ़ी भी दिखाई दे गई ? सच यह है भाई साहब, कि हर लेखक कुछ न कुछ पागल होता है और इस समय तो आप सचमुच आगरेकी एक ख़ास बिल्डिंगके चारों तरफ़ ही घूम रहे हैं।"

जी हाँ, आगरेकी बिल्डिंगके बाहर ही नहीं, मुमकिन है मैं उसके भीतर ही घूम रहा होऊँ, पर मेरा विश्वास है कि पूरी बात सुनकर आप भी यह मान लेंगे कि हमारे चच्चा एक ज़िन्दादिल इन्सान ही नहीं, पूरे दार्शनिक—फ़िलासफ़र हैं और दार्शनिक भी जीवनके; यानी कोरे सिद्धान्ती नहीं, एक असली आदमी।

"अच्छा, तो सुनाइए फिर अपने चच्चाकी जीवन-फ़िलासफ़ी हमें भी ज़रा। मुमकिन है उसमेंसे कुछ हमारे हाथ-पल्ले भी पड़ जाय; वैसे तो आप जानते ही हैं कि हम अपने मुल्कके एक मशहूर कुढ़मग़ज़ आदमी हैं।"

लो लीजिए, सुनिए, चच्चाकी जीवन-फ़िलासफ़ी। बात यह हुई कि हमारे

दफ्तरके बड़े साहब हमसे नाराज हो गये और उन्होंने हमसे ऐसा कसकर जवाब तलब किया कि सबने मान लिया कि अब हमारा पत्ता कटा। अच्छी तनख्वाह, शानदार काम, छूटा-सो-छूटा, फिर कहाँ मिलता है ? हम परेशान हो गये और दिमागकी हालत यही हो गई कि यों तो सारे दिन सोच ही सोच, पर कोई पूछे कि भाई, क्या सोच रहे हो, तो हम इस तरह चौंके कि जैसे दूसरेकी थैलीमें हाथ दिये पकड़े गये !

किस्मतकी बात कि कहींसे घूमते-घामते आ निकले चचा और हमें देखा जो गुमसुम, तो दूरसे ही तनतनाकर बोले—"कहो साहबजादे, किस गलीमें पिट आये आज ?"

पहले तो हमें बुरा लगा कि वाह साहब, हमारी तो बन रही है जानको और उन्हें सूझी है फुलझड़ी छोड़नेकी; फिर फौरन ही हम सम्भल गये कि ये तो चचा हैं और चचाको न उतरा हुआ चेहरा पसन्द है, न चढ़ा हुआ। वे अक्सर कहा करते हैं कि भाई, चेहरा कोई सिगनल नहीं है कि उसे इस तरह ताने रखो कि देखते ही हँसी-खुशीकी रेल फौरन थम जाये और न वो कोई गुब्बारा ही है कि हमेशा इस तरह फूला रहे कि मालूम हो पीली हसीन बर्रोंसे आपकी मुहब्बत अभी शुरू हुई है। अरे मियाँ, चेहरा है चाँद, चेहरा है गुलाब कि जब देखो खिला रहे, महकता रहे, चमकता रहे।

तो हम पी गये अपना ताव और धीमेसे हमने अपना मामला चचाको सुनाकर उनसे पूछा कि अब होगा क्या ? हँसकर चचा बोले—"होगा क्या, होगा क्या, होगा क्या ! अरे, होना-हवाना क्या है इसमें, तुम्हारा अफसर तुम्हारे जवाबसे, तुम्हारी खुशामदसे, तुम्हारी सिफारिशसे मान गया; तो मामला ज्योंका त्यों, नहीं तो २१ तारीखको महीने भरकी तनख्वाह और गेट आउटका परवाना दोनों एक साथ मिल जाएँगे। फिर चाहे आप आलू-छोले बेचें और चाहे मूँगफली, पूरी आजादी है।"

दुखी तो हम पड़े ही थे, चचाकी बातसे हमें गुस्सा भी आगया और तुनककर हमने कहा—"होना-हवाना क्या है, होना-हवाना क्या है, बस इस बकवादके सिवा आपको कुछ और भी आता है चचा?"

बात हमारी गरम थी, मगर चचाने और भी नरम होकर कहा—"इस बकवादकी गहराईको समझनेके लिए अरस्तू और पतंजलीके खोपड़ेकी जरूरत है, तुम इसे क्या समझोगे मेरे लाड़ले भोण्डक, मगर आज तुम्हें भी मैं इसे न समझा दूँ, तो तुम भी मुझे क्या चचा कहोगे।

लो सुनो, यह होना-हवाना क्या है, राधेश्याम कथावाचकके परिवर्तन नाटककी गोल्डन पिल्स है, जो सब बीमारियोंका इकल्ला इलाज है और यहाँतक कि कोई तुम जैसा लायक भतीजा अपने हम जैसे चचाको बिना पासपोर्टके ही सातवें आसमानपर भेजना चाहे, तो उसके लिए भी यह रामबाण है।

रामके बाणने रावणको मारकर भारतके इतिहासमें एक नया मोड़ पैदा किया था और हमारी इस गोलीने भी भारतको एक नया मोड़ दिया, यह शायद आपको पता नहीं। औरंगजेब अगर 'होना-हवाना क्या है' की गोली न खाता, तो दिल्लीके इतिहासमें औरंगजेबकी सिर्फ़ इतनी ही चर्चा होती कि समूगढ़के मैदानसे उसका सिर काटकर शाहजहाँके सामने दरबारमें पेश किया गया और उन्होंने हुक्म दिया कि इसे ठोकरोंमें लुढ़कनेके लिए चाँदनी चौकमें फेंक दो।"

"यह किस तरह चचा?" हमने पूछा, तो बोले—"हाँ, अब आये हैं राहपर!" और तब कहने लगे—"औरंगजेब दक्षिणकी लड़ाइयाँ जीतकर दिल्लीकी गद्दी अपने बापसे छीनने चला, तो समूगढ़के मैदानमें उसकी टक्कर शाही फौजोंसे हुई। उधर औरंगजेब अपनी तीस हजार फौजों के साथ और इधर बड़ा भाई दारा ६० हजार शाही फौजोंके साथ। कहाँ

तीस, कहाँ साठ ! औरंगजेब अपने हाथीपर चढ़ा अपनी फौजके बीचों-बीच खड़ा था कि राजपूत उसपर टूट पड़े और उसके हाथीके चारों तरफ जो पठान सिपाही थे उनमें भगदड़ पड़ गई।

दाराने दूरसे यह देखा और यह सोचकर कि बस लड़ाईके फैसलेका वक्त आ गया है, अपना हाथी मोर्चेकी तरफ़ हूल दिया, पर दारा आरामोंमें पला राजकुमार और औरंगजेब लड़ाइयोंके मोर्चोंपर पनपा सिपाही। दारा धूप और प्याससे बेहाल होकर कुछ मिनटोंके लिए एक हल्केसे सायेमें ठहरकर आराम करने लगा, पर ठीक इसी मौक़ेपर खतरेको सामने आया देख औरंगजेबके हाथीवानने पूछा—"अब क्या होगा हुजूर ?"

औरंगजेबने कड़ककर कहा—"होना-हवाना क्या है जी ! फ़ौरन हाथीके पैरोंमें साँकल डाल दो, जिससे यह अंगुल भर भी इधर-उधर न सरक सके !"

हाथीवानने हुक्मकी तामील की और बस इतनी देरमें तख्ता उलट गया। भागे हुए पठान सिपाही लौट आये और राजपूत सिपाही घिर गये। फ़तह औरंगजेबके हाथों रही और दारा दिल्लीकी तरफ़ भागता नज़र आया।

कहिये, इसी गोलीने भारतके इतिहासको यह नया मोड़ दिया या नहीं ? और आप जब देखते हैं, हमारी इस गोलीका मजाक उड़ाते हैं और इसे बकवाद बताते हैं। इस गोलीका पहला असर यह है कि आदमीके दिलमें भरोसा होता है, बेफ़िकरी आती है और कोशिशोंके लिए उसके हाथ-पैर खुल जाते हैं।"

लेकिन चचा, एक निराश-नाउम्मीद आदमी भी तो यही सोचता है कि अब होना-हवाना क्या है ? हमने बीचमें टोककर पूछा, तो बोले—

"ठीक है निराश आदमी भी यही सोचता है कि अब होना-हवाना क्या है और कोशिशें बन्द कर बैठ जाता है, पर इसमें मेरी गोलीका क्या क़सूर कि लोग उसे ग़लत इस्तेमाल करें। फिर भी गोली कुछ न कुछ अपना काम करती है और ऐसे लोगोंको भी तसल्लीसे बैठा देती है, उनकी बेचैनी कम कर देती है; वरना वे जाने कबतक तड़पते और स्यापे लेते!"

जरा रुककर बोले—"लीजिए, इस बारेमें एक ख़ास बात बताऊँ कि मेरी यह बात बेफ़िक्रीकी एक दवा ही नहीं है, धर्मका सार भी है।"

वाह चचा, वाह, यह एक ही रही, पर यह तो बताइये कि आप जैसे नास्तिकको यह धर्म-कर्म कबसे सूझने लगा? हमारा यह प्रश्न सुना, तो चचा बोले—"हम हज़ार नास्तिक हों, हमें धर्मवालोंकी बस एक यही बात पसन्द है कि उनका पक्का ईमान-विश्वास इस बातमें है कि होना-हवाना क्या है?

एहसान नाख़ुदाका उठाये मेरी बला।
कश्ती ख़ुदा पै छोड़ दूं लंगरको तोड़ दूं।

अरे डूबेगी, डूब जाएगी, पार होगी, हो जाएगी। पार करेगा तो ईश्वर, डुबाएगा तो ईश्वर और वह जो कुछ करता है भला ही करता है—उसकी इच्छा पूरन हो!

सो भैया, चाहे आप पण्डत गरुड़ध्वजकी तरह ईश्वरभक्त हों, चाहे चचाकी तरह सफ़ाचट्ट, पर "होगा क्या, होगा क्या" के चक्करसे निकलिये और धुड़धुड़ी लेकर खड़े हो जाइये; साथ ही पूरी ताक़तसे एक बार सोचिये कि भई, ख़ामख़ाँ हम परेशान क्यों हों, आख़िर होना-हवाना क्या है?

और लो सुनो, आपने उस दिन हमें चायके साथ गरम पकौड़ियाँ खिलाई थीं, उसका एहसान हमारे सिर है, सो आपको बिना फ़ीस लिये एक मशवरा

देकर उसे उतार देते हैं, क्योंकि एहसानफ़रामोशी—कृतघ्नता—बहुत बड़ा पाप है।"

चचाकी यह बात, सुनी तो हम खिसक कर उनके पास हो गये कि जाने वे बड़े साहबके बारेमें ही कोई कामकी बात न कह दें और कहा—हाँ, तो दीजिए फिर मशवरा, पर चचा, रामबाण हो कि बड़ा साहब धम्मसे नीचे आ गिरे !

"बड़ा साहब ? अरे भाई, वो पाँचफुटा है क्या चीज, आपका सारा दफ्तर धड़ामसे नीचे आ गिरे, अगर आप हमारे मशविरेपर कान दें।" चचाने गम्भीरतासे कहा और तब बोले—"आप गीदड़गुरुके चेले हो जाएँ और उसका गुरुमन्त्र गलेमें नहीं, दिलमें उतार लें। बस, मामला आपों आप मुट्ठीमें आ जाएगा !"

गीदड़गुरुका चेला, कौन गीदड़ गुरु ? सवाल सुना, तो चचा बोले—"अरे आप गीदड़ गुरुको भी नहीं जानते, तभी तो बड़े साहबसे डरे यहाँ पड़े हैं तकियेमें सिर दिये; वरना एक साहब क्या, आप दोको यों फिरकी बना दें। अच्छा, तो फिर सुनिये गीदड़गुरुकी कहानी—

गीदड़ने जंगलमें देखा कि एक हाथी मरा पड़ा है। उसने दाँत मारे, पंजे चलाये, पर हाथीकी खाल थी, उसका दाव न बैठा। स्वादिष्ट भोजनका भण्डारा सामने, मगर यह कुण्डी कैसे खुले ?

उधरसे आ निकला एक शेर। गीदड़ने उससे कहा—"मामा, मैंने तुम्हारे लिए यह हाथी मारा है, लो आओ भोग लगाओ।"

शेरने कहा—"बेटे, मैं दूसरेका शिकार नहीं खाता, मेरा प्रसाद समझ कर तुम्हीं आनन्द करो।"

गीदड़का वार खाली गया, पर तभी उधरसे आ निकला एक चीता। गीदड़ने कहा—"यह [illegible] छोटे मामा, और पहरेपर

मुझे बैठा, नहाने गये हैं वे, पर तुम बहुत भूखे मालूम होते हो, इसलिए एक तरफ़से थोड़ा-सा तुम खा लो। मैं दूर बैठा देख रहा हूँ, मामा आते दिखाई देंगे, तो तुम्हें कह दूँगा, तुम भाग जाना।"

चीता लोभमें आगया, पर अपने मज़बूत पंजोंसे हाथीकी खालको चीर, वह मुँह मारनेको ही था कि गीदड़ने दौड़कर कहा—"भागो, मामा आ रहे हैं।"

चीता भाग गया और यों गीदड़ने कई दिन खूब भोग लगाया। ये हैं गीदड़गुरु और यह है उनका गुरुमन्त्र! कुछ समझे? अरे भाई, समझना इसमें क्या है, बस जिसके हाथमें आपके मसलेकी बागडोर है, उसे चारों तरफ अ को आ से और आ को इ से इस तरह तोप दो कि वह आपसे बाहर न जा सके।

बस फिर आप भी मेरी फ़िलासफ़ीके क़ायल हो जायँगे और कोई आपसे अगर पूछेगा कि भाई, आपके बारेमें अब क्या होगा, तो आप चटाकसे कहेंगे—अजी, इसमें होना-हवाना क्या है?

अब भी समझमें कुछ कसर रह गई हो, तो यों समझ लीजिये कि मेरी फ़िलासफ़ीका सार यह है कि कोई मसला इतना बड़ा नहीं होता कि हल न हो सके, और सच तो यह है कि हर मसलेके साथ ही उसका हल भी रहता है, पर मुसीबत तो यह है कि हम मसलेके भयसे इतने डर जाते हैं कि उसे न खुलनेवाली गाँठ समझ लेते हैं। होना-हवाना क्या है कि, फ़िलासफ़ी की घोषणा है कि कोशिश करनेसे पहले ही उसकी कामयाबी तै है, तो मत लीजिये नाकामयाबीका मनहूस नाम और समझ लीजिए कि हर मसला हल होनेके लिए है!

अधूरा कभी नहीं, पूरा और पूरी तरह !

जहाँतक याद है यह ईगुलकी बात है। उस वर्ष वहाँ गान्धी-सेवा-संघका वार्षिक सम्मेलन था और गान्धीजी भी उसमें पधारे थे। वहाँ उन्होंने जो भाषण दिया, उसका आरम्भ उन्होंने कुछ इस तरह किया—

अभी मैं अपने ठहरनेके स्थानसे जब यहाँ चला आ रहा था, तो मैंने देखा कि एक अध्यापक महोदय कुछ बालकोंको तकली चलाना सिखा रहे थे, पर उनका तकली चलानेका तरीक़ा स्वयं ही शुद्ध नहीं था। भूल यह थी कि वे पहले पूरा धागा खींच लेते थे और तब उसे ऐंठ देते थे। यह बड़ी भारी भूल है !

एक साधकने पूछा—पूरा धागा खींचकर फिर उसे ऐंठनेमें क्या भूल है बापू ?

जवाब मिला—पूरा धागा खींचनेपर किसी कामसे बिना उसे ऐंठ दिये कातनेवालेको उठना पड़ जाय, तो उस कच्चे सूतके खराब होनेका तो भय है ही, पर सबसे बड़ी बात तो यह है कि आपका एक काम अधूरा रह गया।

और बस अपने स्वभावके अनुसार यहीं गान्धीजी तकलीके सूतसे जीवनके सूत्रमें उतर आये और बोले—पता नहीं मनुष्यके पास मृत्यु कब आ पहुँचे, इस लिए उसे इस तरह जीना चाहिए कि जब भी वह संसारसे जाए, उसका हरेक काम अपनी जगह पूरा हो और किसी दूसरेको उसका काम पूरा करनेमें नहीं, उसके कामको आगे बढ़ानेमें ही हाथ लगाना पड़े।

ईगुलकी यह बातचीत जब-जब मेरे ध्यानमें आती है, मैं सोचता हूँ—

गान्धीजी जीवनकी हर बातको कितनी गहराईसे सोचते थे और जीवनके हर क्षणको कितनी गम्भीरतासे लेते थे !

और जब भी कभी मैं यह सोचता हूँ कि वे जिस दिन स्वयं इस संसारसे गये, अपना वह दिन उन्होंने ३ बजकर २७ मिनटपर आरम्भ किया था और जवाबके लिए बीचमें पड़ी चिट्ठियोंका जवाब उन्होंने लिखाया था, तो एक तड़पन मेरे प्राणोंमें कौन्ध-कौन्ध उठती है कि क्या वे जानते थे कि मैं आज जा रहा हूँ और इसी लिए उन्होंने अपने कई अधूरे काम उस दिन पूरे कर दिये थे !!

तो जीवनका यह सूत्र बना कि जो काम करो, पूरा करो—एकको बीचमें अधूरा छोड़, दूसरेका आरम्भ और दूसरेको अधूरा छोड़, तीसरेका आरम्भ, यह काम करनेका कोई अच्छा तरीका नहीं है।

लोकजीवनमें इस सत्यको एक कहावतमें यों कहा गया है—'आगे दौड़, पीछे चौड़।'

इतिहासमें भी ऐसे वीरोंकी कथाएँ सुरक्षित हैं, जो जीतते गये और बढ़ते गये, पर जब आखिरी किनारेपर पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि उनके गलेमें विजयका हार नहीं, गुलामीका तौक पड़ा है और उनके हाथोंमें विजित देशोंके विजय-पत्र नहीं, हथकड़ियाँ डाली जा रही हैं। क्यों ? क्योंकि वे जीते देशोंकी व्यवस्थाका अधूरा काम छोड़कर आगे बढ़ गये !

मैं जीवनकी सरल बात कहने बैठा था, पर लगता है कि कुछ बोझल हो चला हूँ, तो आइए, अपने मित्र श्री खन्ना और उनकी पत्नी श्रीमती खन्नासे आपका परिचय कराऊँ। श्री खन्ना एक ईमानदार, परिश्रमी और भले राज्य कर्मचारी, तो श्रीमती खन्ना एक सुरुचि-सम्पन्न, सहृदय गृहिणी। एक मध्यम श्रेणीका छोटा-सा परिवार, पर इतना व्यवस्थित कि देखें, तो देखते ही रह जाएँ—हँसीमें मित्र लोग कहते हैं—"श्रीमती खन्ना झाड़ूसे

नहीं बुहारतीं, जीभसे फर्श चाटती हैं।" वे अपना घर ऐसा रखती हैं कि जैसे वह म्यूजियम हो और इसकी चीजें बरती न जाती हों, बस देखनेके लिए सजी ही रहती हों !

एक दिन पूछा—"इस व्यवस्थाका रहस्य क्या है ?"

श्रीमती खन्ना बोलीं—"जो चीज जहाँकी है, उसे वहीं रखनेकी आदत !" और तब उन्होंने एक ताजा संस्मरण सुनाया—"रात खन्ना साहब एक बजे आये। उनके साथ सामान भी था। आते ही उन्होंने कपड़े निकाले, बदले और बिस्तरबन्द खोलकर जूता जूतेके स्टैण्डपर रक्खा, नगाल पलंगके पास, बिस्तरा भीतरकी चौकीपर पहुँचाया, मैले कपड़े डोलीमें डाले, होल्डाल तह करके उसकी जगह रक्खा, फलोंकी टोकरी रसोईमें रख आये, थर्मस खूँटीपर टाँग दिया, ट्रंक भीतरके कमरेमें रक्खा, छतरी कोनेमें और यों ढाई बजे सोये।"

हम जब सुबह सोकर उठे, तो घर ज्योंका त्यों था। दूसरे लोग ऐसे मौक़ेपर यह फेंका इधर, तो वह मारा उधर और कुछ पलंगके नीचे, तो कुछ चारों ओर; ग़रज़ यह कि घरको ऐसा कर देते हैं; जैसे यहाँसे अभी-अभी राजस्थानी लुहारोंका क़ाफ़िला उठा हो !"

वे बोलीं—"बस यही हमारी व्यवस्थाका रहस्य है।"

मैंने कहा—"ठीक है, आप लोग खादी न पहननेपर भी इस मामलेमें गान्धीजीके पक्के शिष्य हैं, कभी अधूरा काम नहीं करते।" और तब मैंने उन्हें गान्धीजीका वह ईंगुलवाला संस्मरण सुनाया।

खन्ना परिवारके विरुद्ध है मेरा एक आत्मीय और उसकी बहू रानी। दोनों सुन्दर हैं, पर घरका सौन्दर्य दोनोंको पसन्द नहीं—उनका घर देखकर ऐसा लगता है कि वे आज ही इस घरमें आये हैं और उनका सामान किसी दूसरे घरसे लाकर अभी यहाँ रक्खा गया है—यहाँ यह पड़ा है, तो वहाँ

वह। कभी-कभी मैं उसे व्यवस्थित करा देता हूँ, पर यह रेतोंका राजमहल उसी दिनसे छीजने लगता है और दो-तीन दिनमें ही फिर अपना स्वरूप ले लेता है।

क्या उसके पास जगहकी कमी है? ना, यह स्वभावकी बनावट है, जिसे मैं मानसिक दरिद्रता कहा करता हूँ।

विकास प्रेसके बरामदेका पार्टीशन करके बनाई गई मेरी अपनी कोठरी है—नौ बालिश्त चौड़ी, नौ बालिश्त लम्बी। इसमें मेरा पुस्तकालय है, कार्यालय है, पूजा-मन्दिर है, शयन-कक्ष है, बैठक है, स्टोर है और भी बहुत कुछ है। समाजके अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक, जो धनपति हैं, ऊँचे राज्य कर्मचारी हैं, मिनिस्टर-डिप्टी-मिनिस्टर हैं और बड़े-बड़े भवनोंमें रहते हैं, अक्सर इस कोठरीमें आतिथ्य ग्रहण करते रहे हैं। मैंने बार-बार देखा है कि वे आकर पहले भौंचक हो इस कोठरीमें चारों ओर आँखें घुमाते हैं और तब कहते हैं कि वाह साहब, यह आपकी कोठरी तो खूब है। मैं स्वयं अपनी कोठरीपर गर्व करता हूँ कि उसमें एक पूरा जीवन है, वातावरण है, व्यवस्था है, सौन्दर्य है।

मैं जानता हूँ कि आपका घर भी अव्यवस्थित रहता है और आप चाहते हैं कि वह खन्ना परिवार या मेरी कोठरीकी तरह व्यवस्थित रहे, तो अधूरा काम करनेकी बुरी आदत छोड़िए और पूरा काम करनेकी अच्छी आदत डालिए।

अधूरे या पूरे कामका घरकी व्यवस्थासे भला क्या सम्बन्ध? आपके मनमें यह प्रश्न पूरे जोरसे उमड़ रहा है, पर इसका बड़ा गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि अधूरे काम ही घरकी व्यवस्थाको खराब करते हैं।

यह कैसे? इस तरह कि आपका घर इस समय पूरी तरह व्यवस्थित है, हर चीज अपनी जगहपर रक्खी खिल रही है और आपने यह निश्चय भी

कर लिया है कि इसे ऐसा ही रक्खेंगे, अब आप कपड़ोंके दराजमेंसे एक बनयान निकालते हैं। वह कहीं कपड़ोंमें रक्खा गया है, मिलता नहीं। आप ३-४ कपड़े निकालकर कुरसीपर रख देते हैं और बनयान लेकर बाहरके कमरेमें आ जाते हैं। बस सारी व्यवस्था समाप्त समझिए; क्योंकि आपने अधूरा काम किया और कपड़ोंको ज्योंका त्यों नहीं रक्खा।

आपके बाद आपका पुत्र आ गया और वह अपने स्थानपर रक्खी उस कुर्सीको खींच, ऊपरके ताकमें रक्खा अपना खेल उतारकर कुरसीको वहीं छोड़ जायगा। तब दर्शन देंगी उसकी माताजी और वे कपड़ोंकी मरम्मत करके, कैंचीसे कटी कतरनें और सुई-तागेका डब्बा बीचमें छोड़ जाएँगी और बस आजका सूरज डूबनेसे पहले ही आपका घर कबाड़ीकी दुकान बन जाएगा।

है अधूरा काम घरकी व्यवस्थाका दुश्मन ?

दूरके नगरमें मेरे एक मित्र रहते हैं। तीन-चार साल बाद मैं गया, तो देखा कि एक छोटा-सा दुमंजिला मकान उन्होंने बना लिया है। नया मकान, नया फरनीचर, नई किताबें, पर दरवाजेकी तरफ़ वाली दीवार पर पानीके डोरे खिंचे हुए, जिससे कमरेमें एक भद्दापन छाया हुआ।

पूछा—यह पानी कहाँसे आया है, तो बोले—"ये पैड़के दो छेद बन्द होनेसे रह गये, बरसातमें पिछवाड़ आजाती है।"

वही अधूरा काम कि मकान बने दो साल हो गये, पर पैड़ बाँधनेके लिए बने छेद रह गये, जिन्हें बन्द करनेका काम सिर्फ दस मिनटका था। अब चार ईंट, आधसेर सीमेण्ट, दस मिनटके लिए मिस्त्री और सीढ़ी, यह सब हो, तो वे छेद बन्द हों, इसलिए दस मिनटकी वह अपूर्णता जाने कबतक पूर्ण हो !

इससे भी एक छोटी बात लीजिए। आपने अपने कमरेमें झाड़ू लगाई,

सामान जहाँका तहाँ किया, पर आप देख रहे हैं कि ऊपर कोनेमें एक जाला लगा है। आप अपनी बेंत जरा हिला दें, तो जाला खत्म हो, पर नहीं आपने उसे छोड़ दिया और बस आपका काम अधूरा रह गया।

कामको अपूर्ण करनेकी आदत जीवनको अपूर्ण कर देती है और कभी-कभी इसके भयंकर परिणाम निकलते हैं।

मेरे एक मित्र हैं पी० सी० एस०। यूनिवर्सिटीमें फर्स्ट आये थे और डिप्टी कलेक्टर होनेके कुछ दिन बाद ही सिटी मैजिस्ट्रेट हो गये। एक शहरसे दूसरे शहरमें तबादला हुआ। किरायेपर लिया हुआ फरनीचर और कालीन आपने किसी अर्दलीके हाथों लौटा दिया और चले गये, पर दो साल बाद फरनीचरवालेने उस सामान और किरायेकी नालिश कर दी। अब मैजिस्ट्रेट साहबकी पोजीशन खतरेमें। १५ दिन मैं दौड़ा-दौड़ा फिरा और तब कहीं ८०० रुपयेमें फैसला हुआ।

बात यह हुई कि या तो अर्दली साहबने सामान साफ किया या फिर फरनीचरवालेके मुन्शीने बेच खाया। सामान लौटाकर रसीद न लेनेके अधूरे कामने यह परेशानी और जुर्माना दिया।

एक साहबने अपने कीमती सामानकी अटैची कुलीके सिरपर रखी और टिकट खरीदने चले। मेम साहबने कहा—सामान कीमती है, मैं साथ जा रही हूँ, तो अकड़कर बोले—डोण्ट वरी, कमोन डीयर (चिन्ता मत करो, तुम मेरे साथ रहो प्यारी!) कुलीने यह बात सुन ली और जाने कहाँ रल गया। न मेम साहब साथ गई, न साहबने नम्बर नोट लिया। यही कामकी अपूर्णता!

यह अपूर्णता क्यों होती है? इस प्रश्नके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणमें मैं न उलझूँगा; क्योंकि किसी छोटे दर्जेकी अंगरेजी पुस्तकमें सुन बीते पढ़ी एक कविताकी दो पंक्तियोंमें ही इसका समाधान है—

"वर्क ह्वाइल यू वर्क, प्ले ह्वाइल यू प्ले !
दैट इज दी वे, टु बि हैप्पी आई से !"

जब तुम काम करो, तो बस काम ही करो और जब खेलो, तो बस खेलो ही खेलो; मैं कहता हूँ प्रसन्न रहनेका एक यही तरीक़ा है।

बात गहरी है कि काम करो, तो उसमें पूरा ध्यान, पूरी दिलचस्पी, पूरी योग्यता लगादो; क्योंकि दिलचस्पी, लगन और चाह ही आदमीमें पूर्णताके लिए चाव पैदा करती है और इसीसे वह अधूरेपनसे बच, पूर्ण काम करनेका आदी हो जाता है।

अधूरा काम जीवनको अधूरा कर देता है, उससे बचो और हमेशा पूरा काम तो करो ही, कामको पूरी तरह भी करो—

"वर्क ह्वाइल यू वर्क, प्ले ह्वाइल यू प्ले !"

दुनिया दुखोंका घर है !

बात आजकी है एकदम ताजी, पर बात पुरानी है, बहुत पुरानी और शायद उस बरगदके पेड़से भी पुरानी, जो दक्षेश्वर महादेवके मन्दिरमें खड़ा है। जाने कबसे खड़ा है, यों ही यह बरगदका पेड़—वटका वृक्ष। मेरे बाबा कहते हैं कि वे बालक थे, तो यह पेड़ यहीं इसी तरह खड़ा था और वे उसके नीचे दूसरे बालकोंके साथ आँखमिचौनी और दाईं-दुक्का खेला करते थे।

लगभग ८० वर्षके हैं मेरे बाबा, तो यहीं खड़े-ही-खड़े इस बड़के पेड़ने एक पूरी सदीका इतिहास अपनी आँखों देखा है। कितना विशाल, कितना बूढ़ा, कितना पुराना है यह बड़का पेड़, पर जो बात मैं आपको सुनाना चाहता हूँ, वह इतनी पुरानी है कि उसका अता-पता इस बूढ़े बड़से पूछो, तो यह बगलें झाँकने लगे और अन्तमें खिसियाना-सा कहे कि भाई, जब मैं छोटा-सा बालक था, तब भी बड़े बूढ़े यह बात आपसमें यों ही कहा करते थे, जैसे आज तुम लोग कहते हो।

तो मतलब यह कि बूढ़े बड़से भी बूढ़ी है यह बात, जो मैं आपको सुना रहा हूँ। बुढ़ापेमें आदमी ही नहीं हाथी थसक जाता है और उसमें खुली ताजगी नहीं रहती, पर जो बात मैं आपको सुना रहा हूँ, वह इतनी बूढ़ी है, फिर भी गजबकी तेजी और ताजगी है उसमें और ताजगी भी क्या कोई ऐसी-वैसी, वह तितली-सी सारे देशमें उड़ी फिरा करती है। जब मैं कहता हूँ कि उड़ी फिरती है, तो आप यह न समझें कि वह कोई अप्सरा है, जो इधर-से उधर उड़ी फिरे, जी नहीं वह लोकके कंठका हार है।

"ओः हो, जाने क्या कहे जा रहे हैं आप। मान लिया कि जो बात हमें आप सुनानेवाले हैं, वह बहुत पुरानी है, सारे देशमें उसका प्रचार है,

पर भले आदमी, भूमिका बाँधे जा रहे हो, आखिर वह बात भी तो सुनाओ कि क्या है ?"

ऊँ हूँ:, तुम बोले भी तो यह बोले। बातके बीचमें टमकना ही था, तो कोई कामकी बात कहते। वाह जी, वाह, कहा भी तो क्या कहा कि हम भूमिका बाँध रहे हैं, जैसे भूमिका बाँधना कोई मामूली बात हो। भाई साहब, भूमिका बाँधनेका मतलब है, हवा बाँधना और जिसने हवा बाँध दी, उसके लिए सफलता ऐसी कि जैसे आप सड़कपर पड़ी-पाई इकन्नी चुनौती उठाकर अंटीमें लगा लें। भूमिका बाँधना, यानी हवा बाँधना ऐसा महत्त्वपूर्ण न होता, तो क्या संसारके महान् शासकों और कर्णधारोंकी खोपड़ी कोई खोखली हो गई है कि वे हवा बाँधने वालोंकी जेबमें बैठे फिरा करते हैं।

"संसारके शासक और कर्णधार हवा बाँधनेवालोंकी जेबमें बैठे फिरा करते हैं, यह क्या कह रहे हैं आप ?"

अजी भाई साहब, मैं जो कुछ कह रहा हूँ वो तो एक और एक दोकी तरह बिल्कुल साफ़ है, पर तुम्हारी अक्लका द्वार जरा ऐसा तंग है कि उसमें कोई बात ऐसी ही मुश्किलसे बैठती है, जैसे मोटी स्त्रीके हाथमें बुल्लन मियाँकी छोटी चूड़ी। खैर, कुछ भी हो, मुझे तो यह चूड़ी बैठानी ही है, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि हिटलर जो सारी उम्र प्रचार मंत्री गोयबेल्सको अपना सगा भतीजा बनाये रहा, उसका यही रहस्य था महाराज ! अच्छा तो अब तुम मेरी वह बात सुनो, जो देशके मन्दिरमें खड़े उस बरगदके पेड़से भी पुरानी है और फिर भी देशके घर-घरमें फैली हुई है।

आज तो नन्हे और बुल्लनका बेटा भोंदू और बुड़कल्ला भी जब अपने लिए दुलहन देखने जाता है, तो पूछता है—नाचना जानती हो ? और इस प्रश्नके उत्तरमें यदि वह सकुचाई-सिकुड़ी किशोरी कहे कि 'हाँ' तो वह कुछ इस तरह मुसकराहटके साथ सिर हिलाता है कि जैसे वह भरतके नाट्य-

शास्त्रपर ही थिसिस लिखकर डी० फिल० हुआ हो। साथ ही यदि कानोंमें पड़े 'ना' तो वह सम्पूर्ण गम्भीरताके साथ कुछ इस तरह भौंहोंको सिकोड़कर माथेपर बरसाती नदीके कगार-से खड़े कर लेता है कि जैसे उसने दुल्हनके सम्बन्धमें हो रही जाँच-पड़तालके सामने ऊँची दीवारें ही खड़ी कर दी हों।

साथ ही गलेंथीसे इस तरह उकड़ूँ हो जाता है कि बिना ना किये ही लड़कीवालोंके लिए उसकी बिदाईका ऐलान हो जाता है। यह आज की दशाका एक चित्र है, पर मैं तो उन दिनोंकी बात कह रहा हूँ, जब नृत्य और गानमें निपुणता कन्यामें बिना जाँचे उसी तरह अनिवार्य समझी जाती थी, जिस तरह आजकल भोजन बनाना। यही कारण है कि उन दिनों वरके लिए वधूकी खोज करते समय नाचने-गानेकी जाँच-पड़ताल न करके परिवारके लोग वंशके गुण-दोष देखा करते थे।

बहू जिस दिन पतिके घर आती, उस दिन रात भर मुहल्ले पड़ोसकी कोई कन्या और बहू न सोती और रातभर नृत्य और गानकी धूम मची रहती। यह एक तरहसे बहूकी परीक्षाका उत्सव होता, क्योंकि इसमें नगर और परिवारकी पुरानी बहुएँ और कन्याएँ जहाँ अपनी कलाका प्रदर्शन करतीं, वहाँ बहूको भी अपनी कलाका पूरा प्रदर्शन देना पड़ता। इस तरह दोनों एक दूसरेकी आँखोंमें तुल जाते। उस उत्सव-रात्रिको लोककी भाषामें कहा जाता—रतजगा।

उस दिन भी भारतके एक सुखी नगरमें ऐसा ही रतजगा था। बहू डोलेसे उतरी, तो चाँद निकल आया। बड़ी-बूढ़ियोंने कहा—"बहू रूपका लच्छा है।" सासने गर्वसे झूमकर कहा—"गुणोंका भण्डार भी है।" ईर्ष्यासे कुढ़कर जिठानीने कहा—"यह तो रातमें देखा जायगा।" ननदने संभालते हुए कहा—"देख लेना फिर रातमें ही।"

रतजगा प्रारम्भ हुआ। १०-११ बजे राततक लड़कियाँ नाचीं और तब बहुएं मैदानमें आईं। समारोह जब पूरी गर्मीपर आ गया, तो सासने कहा—"बहू, अब तू उठ मेरी चाँद !"

गर्वीली बहूने उपेक्षासे कहा—"इन छोकरियोंमें मैं क्या नाचूँ माँ; किसीका नाच बढ़िया लगे, तो मेरे दिलमें भी उमंग आये।"

बहुओंने इसमें अपने लिए व्यंग पाया और उनके तालमें ठसक, भ्रू-भंगियोंमें कसककी लहरें और अंग-विन्यासमें थिरक और लचक गति-शील हो उठी। इस गतिमें नई बहूके चैलेंजकी स्वीकृति भी थी और अपनी ओरसे चैलेंज भी था।

कोई तीन बजे नई दुलहन नाचनेको उठी। सबके दिल धड़क उठे और साँसोंकी चाल धीमी पड़ गई। बहूने अब अपना आँचल सँवारा, अब लहँगेके बल सीधे किये, अब ढोलककी कसाई देखी और अब बैठी बहुओंको आगे पीछेकर जगह ठीक की और लो वह आगई नाचकी मुद्रामें, पर यह क्या कि वह फिर ठहर गई और आँखें फाड़-फाड़कर आँगनको देखने लगी। और अब सबने आँखें फाड़-फाड़कर देखा—मुँहपर विरागका भाव लिये वह बैठ गई है और पैरोंसे घुँघरू खोल रही है।

आश्चर्यसे सासने पूछा—"एं, क्या है बहू ?"

"मैं नहीं नाच सकती यहाँ !" बहूने नाक सिकोड़कर कहा, तो और भी आश्चर्यमें सासने पूछा—"क्यों, क्या बात है मेरी चाँद ?"

"इस मकानका आँगन जरा टेढ़ा है और नृत्यका भाव-विकास एक दम चौकोर स्थलमें ही हो सकता है।" एक दार्शनिककी तरह गम्भीर होकर बहूने कहा और घुँघरू खोलकर उसने जरा दूर सरका दिये।

बड़ी बूढ़ियोंके भयसे बहुएँ कुछ कह न पाईं। फिर भी उनके हृदयका विद्रोह जिस गागरमें सागरकी तरह लहरा उठा, वह आज भी लोकोक्ति-

शास्त्रपर ही थिसिस लिखकर डी० फिल० हुआ हो। साथ ही यदि कानोंमें पड़े 'ना' तो वह सम्पूर्ण गम्भीरताके साथ कुछ इस तरह भौंहोंको सिकोड़कर माथेपर बरसाती नदीके कगार-से खड़े कर लेता है कि जैसे उसने दुल्हनके सम्बन्धमें हो रही जाँच-पड़तालके सामने ऊँची दीवारें ही खड़ी कर दी हों।

साथ ही परीक्षार्थी इस तरह उखड़ जाता है कि बिना ना किये ही लड़कीवालोंके लिए उसकी विदाईका ऐलान हो जाता है। यह आज की दशाका एक चित्र है, पर मैं तो उन दिनोंकी बात कह रहा हूँ, जब नृत्य और गानमें निपुणता कन्यामें बिना जाँचे उसी तरह अनिवार्य समझी जाती थी, जिस तरह आजकल भोजन बनाना। यही कारण है कि उन दिनों वरके लिए वधूकी खोज करते समय नाचने-गानेकी जाँच-पड़ताल न करके परिवारके लोग वंशके गुण-दोष देखा करते थे।

बहू जिस दिन पतिके घर आती, उस दिन रात भर मुहल्ले पड़ोसकी कोई कन्या और बहू न सोती और रातभर नृत्य और गानकी धूम मची रहती। यह एक तरहसे बहूकी परीक्षाका उत्सव होता, क्योंकि इसमें नगर और परिवारकी पुरानी बहुएँ और कन्याएँ जहाँ अपनी कलाका प्रदर्शन करतीं, वहाँ बहूको भी अपनी कलाका पूरा प्रदर्शन देना पड़ता। इस तरह दोनों एक दूसरेकी आँखोंमें तुल जाते। उस उत्सव-रात्रिको लोककी भाषामें कहा जाता—रतजगा।

उस दिन भी भारतके एक सुखी नगरमें ऐसा ही रतजगा था। बहू डोलेसे उतरी, तो चाँद निकल आया। बड़ी-बूढ़ियोंने कहा—"बहू लाखमें अच्छा है।" सासने गर्वसे झूमकर कहा—"गुणोंका भण्डार भी है।" ईर्ष्यासे कुढ़कर जिठानीने कहा—"यह तो रातमें देखा जायगा।" ननदने संभालते हुए कहा—"देख लेना फिर रातमें ही।"

रतजगा प्रारम्भ हुआ। १०-११ बजे राततक लड़कियाँ नाचीं और तब बहुएँ मैदानमें आईं। समारोह जब पूरी गर्मीपर आ गया, तो सासने कहा—"बहू, अब तू उठ मेरी चाँद !"

गर्वीली बहूने उपेक्षासे कहा—"इन छोकरियोंमें मैं क्या नाचूँ माँ; किसीका नाच बढ़िया लगे, तो मेरे दिलमें भी उमंग आये।"

बहुओंने इसमें अपने लिए व्यंग पाया और उनके तालमें ठसका, भ्रू-भंगियोंमें कसककी लहरें और अंग-विन्यासमें थिरक और लचक गतिशील हो उठी। इस गतिमें नई बहूके चैलेंजकी स्वीकृति भी थी और अपनी ओरसे चैलेंज भी था।

कोई तीन बजे नई दुलहन नाचनेको उठी। सबके दिल धड़क उठे और साँसोंकी चाल धीमी पड़ गई। बहूने अब अपना आँचल सँवारा, अब लहँगेके सल सीधे किये, अब ढोलककी कसाई देखी और अब बैठी बहुओंको आगे पीछेकर जगह ठीक की और लो वह आगई नाचकी मुद्रामें, पर यह क्या कि वह फिर ठहर गई और आँखें फाड़-फाड़कर आँगनको देखने लगी। और अब सबने आँखें फाड़-फाड़कर देखा—मुँहपर विरागका भाव लिये बहू बैठ गई है और पैरोंसे घुँघरू खोल रही है।

आश्चर्यसे सासने पूछा—"ऐं, क्या है बहू ?"

"मैं नहीं नाच सकती यहाँ !" बहूने नाक सिकोड़कर कहा, तो और भी आश्चर्यमें सासने पूछा—"क्यों, क्या बात है मेरी चाँद ?"

"इस मकानका आँगन जरा टेढ़ा है और नृत्यका भाव-विकास एक दम चौकोर स्थलमें ही हो सकता है।" एक दार्शनिककी तरह गम्भीर होकर बहूने कहा और घुँघरू खोलकर उसने जरा दूर सरका दिये।

बड़ी बूढ़ियोंके भयसे बहुएँ कुछ कह न पाईं। फिर भी उनके हृदयका विद्रोह जिस गागरमें सागरकी तरह लहरा उठा, वह आज भी लोकोक्ति-

में अमर है कि 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा।' जब कोई अपनी कमीको दूस-रोंके सिर मढ़कर पल्ला बचाना चाहता है, तो यह सूक्ति व्यंगका बाण बनकर चोट करती है।

कहिए, ठीक है न मेरी बात कि तक्षेश्वर महादेवके मन्दिरमें खड़े बरगदके पेड़से पुरानी होकर भी यह बात आज भी वैसी ही ताजी है, जैसी कि उस दिन थी कि जब अपमानित बहुओंकी हुंकार उस नई बहूपर बरस पड़ी थी?

एक और बात बड़ी अजीब है कि पुरानी पड़कर हर चीज कमजोर हो जाती है, पर लोकोक्तियोंकी यह विशेषता है कि ज्यों-ज्यों वे पिसती हैं उनका भाव और पैनापन बढ़ता है। 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' इस लोकोक्तिपर ही जब मैं विचार करता हूँ, तो मुझे लगता है कि इसमें जीवन-शास्त्रका एक पूरा अध्याय भी समा गया है।

"ओहो, इसमें जीवनशास्त्रका एक पूरा अध्याय भी समा गया इनकी देखो। तुम्हें भी लन्तरानियाँ छौंकनेकी आदत हो गई है कुछ!"

भाई साहब, मुझे लन्तरानियाँ छौंकनेकी आदत पड़ गई है, तो कोई बुरी बात नहीं, क्योंकि भोजन है, जीवनका प्राण और भोजनका प्राण है छौंक। पुराने लोग कह गये हैं कि छौंक आधा नीका है। फिर बातोंका छौंक तो एक कला है। बीरबल न इंजीनियर था, न कवि; फिर भी अकबर बादशाहकी मूँछका बाल बना रहा, सिर्फ बातोंमें छौंककी कलाके कारण। आप मेरी इस कल्पनाको यों ही उड़ाना चाहते हैं कि दे ढोल और लो कहा? कान खोलकर सुन लीजिए, मैं पूरी ताकतके साथ एक बार फिर दोहराना चाहता हूँ कि इस कहावतमें जीवन-शास्त्रका एक पूरा अध्याय छिपा [illegible] कि लोग नाचना तो जानते नहीं और आँगनको टेढ़ा बताते हैं।

मुझे अपने एक बचपनके साथीकी याद आ रही है। हम दोनों एक संस्कृत पाठशालाके विद्यार्थी थे और उस साल प्रथमा परीक्षा दे रहे थे। सारी पाठशालामें सबसे खराब लिखाई मेरे इस साथीकी थी, पर वह इसे अपनी कमी नहीं मानता था। वह कहा करता था कि मुझे अभीतक अच्छा-सा पेन नहीं मिला और तुम लोगोंको मिल गया है, इसलिए तुम जरा अच्छा लिख पाते हो। मुझे भी जिसदिन मनपसन्द पेन मिल जायगा, बस मैं भी कागजपर मोती टाँकने लगूँगा। सचमुच यही उसका विश्वास था !

परीक्षाका एक सप्ताह रह गया, पर उसे कोई मन-पसन्द पेन न मिला। नतीजा यह कि वह कागजपर मोती टाँकनेमें कामयाब नहीं हुआ और मकौड़े ही मारता रहा। अब वह परेशान था कि क्या करें। अचानक उसने एक नया आविष्कार किया और यह सूची बनाई कि पाठशालामें कौन-कौन विद्यार्थी बहुत सुन्दर लिखता है। सूची बनते ही उसने नया क़दम उठाया और उन सबके निब चुराकर एक छोटी-सी डिबियामें बन्द कर लिये। बुद्धिका बदहाजमा देखिए कि आपने उनसे एक बार भी लिखकर नहीं देखा और मान लिया कि कापीके कागजोंपर अब मैं अजन्ता और इलोराकी तस्वीरें उतार दूँगा।

परीक्षाके दिन बड़े आरामके साथ उन्होंने इस डिबियाका एक निब अपने पेनमें लगाया और कापीके टायटिलपर लिखा—नमः शिवाय। पूरे उत्साहसे आपने कापी उठाकर अपनी चूँधी चिपचिपाई आँखोंसे देखा तो दिल धड़क उठा—ऐं, ये तो वे ही मकौड़े और मक्कड़ हैं, इनमें शिवजीके ललाटपर दमदमाते चन्द्रमाकी चाँदनीका तो नाम नहीं, हाँ उनके भुजंग और भभूतके भूत जरूर नाच रहे हैं।

बेचारेने बड़ी मुश्किलसे अपनी खोपड़ीमें सोचनेकी शक्तिको जगाया और दोनों हाथ साधकर बायें अंगूठेके नाखूनपर निबको इस तरह चटकाया

जैसे गाँवकी फूहड़ सखियाँ अपने मैकेमें लेफेगे गोची जूँको पकड़कर चटका देती हैं, पर कोई फल न मिला। अकल काम ही न करती थी कि क्या बात है। जरा ठहरकर आपने अपनी कुल्ली टोपीसे निबको पोंछा और नया डोबा भरा, पर कोई काम न चला। निराशामें आदमी रो पड़ता है या फुँकारता है। आप फुँकार उठे और आपने डेस्कमें मारकर निबका नामोनिशान ही मिटा डाला। इस तरह तीन दिनमें मेरे साथीने लगभग १५ निबोंका बलिदान किया और फर्स्ट डिवीजनमें फेल हो गये।

यही भूल आपकी है भाई साहब, नाच आप जानते नहीं, न जानना मानते भी नहीं और आँगनको टेढ़ा बतलाते हैं, पर मैं इसके लिए आपको कोई दोष नहीं दे सकता, क्योंकि इस दुनियाके ९९ फ़ी सदी आदमियोंका यही हाल है। जिसे देखिए दुखोंका मरसिया पढ़ते नजर आता है, जैसे यह दुनिया दुखोंका ही एक अजायबघर हो। फिर कोई दुखी है, तो उससे यह भी पूछना पड़ता है कि भाई, तू क्यों दुखी है? इसके जवाबमें इस किनारेसे दुनियाके उस किनारे तक कोई यह नहीं कहता कि मैंने भूल की, ठीक नहीं चला और इसलिए दुखी हूँ। अपने बारेमें हरेककी राय १०० फ़ी सदी ठीक है। कोई कुटुम्बवालोंका नाम लेता है, कोई मित्र-साथियोंका और किसीको इनमेंसे कोई हाथ न आये, तो सबके दोषोंका जिम्मेदार भाग्य तो है ही। अब यह भाग्य कोई चीज है या नहीं, इस बहसमें मैं नहीं पड़ता, पर सोचता हूँ कि वह बेचारा गूँगा है और बोल सकता, तो अपने इन लड़कोंमेंसे बहुतोंकी सात पीढ़ियाँ बखान मारता!

मेरे पड़ोसमें दो भाई हैं। गरीब माँ-बापके बेटे और मामूली पढ़े हुए। एकने मुहल्लेमें मामूली पानकी दुकान कर ली और आज वास्कटके कुरतेमें सोनेके बटन लगाये बैठता है। दूसरा लखपति होनेके चक्करमें पड़ गया और नकली रुपया बनानेके सिलसिलेमें जेल काटकर आया है। गाव-

दिन भाग्यको कोसता है और गुनगुनाया करता है—

"मेरा तजरुबा है कि इस जिन्दगीमें, परेशानियाँ ही परेशानियाँ हैं।"

उस दिन बातों ही बातोंमें बोला—"अजी बाबूजी, भगवान्‌की यही मर्जी थी कि मैं बर्बाद हो जाऊँ, सो हो गया।" मैं सोचने लगा कि यह भगवान् कौन है, कैसा है कि लोगोंको बर्बाद करनेके गुलटप्पे मारता रहता है।

भगवान्‌के बारेमें भी एक अजीब मसखरी है। एक साँसमें लोग कहते हैं, वह दयालु है, सर्वशक्तिमान् है, न्यायकारी है और उसीने यह दुनिया बनाई है और उसी साँसमें कहते हैं कि यह दुनिया दुखोंका घर है, परेशानियोंका अड्डा है। यही नहीं कि यह बात अनपढ़ कहते हों या नासमझ; जी नहीं, वे कहते हैं यह बात जो धर्म-कर्मके ठेकेदार माने जाते हैं और इतनी पुस्तकें रटे फिरते हैं कि मामूली गधेपर लाद दो, तो बेचारेकी कमर तीरकमान बन जाये।

अब पूछे कोई उन भले आदमियोंसे कि भाई, जो ईश्वर दयालु और सर्वशक्तिमान् है, वह दुखोंका घर क्यों घड़ेगा ? भला जो इंजीनियर हो सकता हो, उसका सिर फिरा है कि वह आलू-छोले बेचता फिरे? दुनिया सुखोंका भंडार है यह एक ऐसा उपवन है, जिसमें खुशियोंके फूल खिले हैं। हाँ, इसमें काँटोंकी बाढ़ भी है। अगर कोई उन फूलोंकी तरफ़ तो देखे नहीं और काँटोंमें उलझता फिरे, तो इसमें भगवान् क्या करे ?

बात वही है कि कम्बख्त नाचना जानते नहीं और आँगनको टेढ़ा बताते हैं। अब बताओ तुम कि इस कहावतमें जीवन-शास्त्रका एक अध्याय भरा हुआ है या नहीं ? अरे साहब, तुम सोचनेकी मुद्रामें गुम क्यों हुए जा रहे हो ? मान लो, हाँ साहब, बस मान ही लो कि आज हमने तुम्हें कामकी एक बात बता दी है। जानता हूँ कि तुम कंजूस हो और धन्यवाद नहीं दोगे, पर कोई फ़िक्र नहीं; हम भी उन दूकानदारोंमें हैं, जो सौदा देकर दाम लेना भूल जाया करते हैं।

बल-बहादुरी : एक चिन्तन

बलमें पुरुषत्वका निवास है और सहृदयतामें देवत्वका। बलके अभावमें परिलक्षित होता है क्लीवत्वका दयनीय दर्शन और सहृदयताकी शून्यतामें ताण्डव करती है, पाप पुंज-प्रोज्वलित पैशाचिकता !

क्लीवत्व भयका पिता है और उसकी सहचरी है दीनता, पर पैशाचिकताकी सखी है क्रूरता और वह अज्ञानके पुत्र अहंकारका पोषण करती है।

पुरुषत्व अभयका जनक है और देवत्व शान्तिका। अभय और शान्तिका यह सुन्दर सम्मेलन ही मानवताके विकासकी पुण्य-भूमि है।

रावण भी बली था और राम भी; कृष्णमें भी बलका अधिष्ठान था और कंसमें भी; पर एककी आज जयन्ती मनाई जाती है और दूसरेका स्मरण हमारे हृदयोंमें घृणाके उद्वेगका कारण होता है।

बात क्या है ?

एकने अपने बलका उपयोग किया जनताके अधिकारोंकी रक्षामें और दूसरेने उनके अपहरणमें; एकके बलका पथ-प्रदर्शक था प्रेम और दूसरेका स्वार्थ; बस दोनोंका यही अन्तर है ! इसका अर्थ यह हुआ कि सबलके बलका सदुपयोग ही उसके साफल्यकी एकमात्र कुंजी है।

बल एक है, पर उपयोगके साँचेमें ढलकर हम उसे दो रूपोंमें देखते हैं। आत्माका संस्पर्श उसे वीरताके पवित्र एवं स्पृहणीय नामसे उद्घोषित करता है और देहका क्रूरताके जघन्य एवं घृणित नामसे।

दूसरे शब्दोंमें विवेकका साहचर्य उसे स्वर्गकी सीमामें ले जाता है और अविवेकका नरककी।

सामान्यतः बल अन्धा है और उसकी गति पथ-प्रदर्शकके आधीन है।

राष्ट्र एवं जातियोंके गौरवकी स्थिति पूर्णतः कोकिलके शिशुओं जैसी

है। उसका जन्म होता है, शक्तिकी कल्याणमयी गोदमें, पर वह पलता है प्रेमके पवित्र पालनेमें। बल उसकी नसोंमें अभिमान एवं कर्मण्यताके रक्तका संचार करता है और प्रेम उसे त्यागका अमृत पिलाकर अमर करनेका प्रयत्न। बल एवं प्रेमका यह सात्त्विक सहयोग ही राष्ट्रोंके निर्माणकी मूल-शिला और इन दोनोंका पारस्परिक विरोध ही विश्वके विशाल राष्ट्रों एवं जातियोंके खण्डहरोंका सच्चा एवं हृदयवेधी इतिहास है।

बल आकर्षणका केन्द्र है। बलका उपयुक्त प्रदर्शन अपनों और बिरानों, सभीको अपनी ओर आकर्षित करता है—सबलको सभी मुग्ध-दृष्टिसे देखते हैं; प्रेम और श्रद्धाका स्नेहोपहार उसके चरणोंमें समर्पित कर सभी अपनेको धन्य समझते हैं, पर वीर अपने प्रतिद्वन्द्वी वीरके एक प्रशंसा वाक्यको जन-साधारणके अतिशयोक्तिपूर्ण अनेक भाषणोंसे अधिक महत्त्व देता है। वास्तवमें एक कवि ही दूसरे कविकी सच्ची प्रशंसा करनेका अधिकारी है और एक वीर ही दूसरे वीरका सच्चा सम्मान कर सकता है।

इतिहास-रत्न जयमल और वीर-शिरोमणि फत्ताका हम कितना ही गुण-गान करें, पर उनका सच्चा सम्मान तो मुगल-सम्राट् वीर अकबर ही कर सका था।

झाँसीकी वीर महारानी लक्ष्मीबाईके सम्मानमें हम कितने ही काव्योंका निर्माण क्यों न करें, उस देवीका वास्तविक सम्मान ब्रिटिश सेनाके वीर सेनापति ह्यूरोजके वे शब्द हैं, जो आज भी इतिहासके स्वर्ण-पृष्ठोंमें अपनी दिव्य-प्रकाश-मालाके साथ जगमगा रहे हैं।

बल और बुद्धिका वही सम्बन्ध है जो देह और आँखका। बुद्धि-कौशलके बिना बलका कुछ अर्थ नहीं और बलके अभावमें बुद्धि-कौशल पंगु है।

राजपूतोंमें बल था; ऐसा बल, विश्व-इतिहासके पृष्ठोंमें जिसकी कोई उपमा नहीं, पर पराजयके अतिरिक्त उन्हें क्या मिला ?

वे जहाँ लड़े सिंहकी भाँति लड़े। शत्रु और मित्र सभीने खुले दिल उनके शौर्यकी प्रशंसा की, पर इससे क्या ?

कल्पनाके मोदक हमें कुछ कालके लिए आनन्दके मधुर आवेशमें भले ही भुला दें, पर हमारी क्षुधाकी शान्ति नहीं कर सकते।

शाहजहाँका उत्तराधिकारी दारा, ६० हजारसे भी अधिक बलराशिका स्वामी था और उसका छोटा भाई औरंगजेब इससे आधेसे भी कम, पर बुद्धि-कौशलके अभावमें एकका अन्त इतना दयनीय है कि पत्थर भी पसीज उठे और दूसरा इसीके सहारे साम्राज्यका अधीश्वर बन बैठा !

बलके साथ बुद्धिका एकत्र संयोग सौभाग्यश्रीका पुनीत वरदान है। जिस मनुष्य, जाति या राष्ट्रको महामायाका यह वरदान प्राप्त है, सफलता उसके सामने हाथ बाँधे खड़ी रहनेमें अपने जीवनकी चरितार्थता मानती है और विजय उसकी आँखके एक सूक्ष्म संकेतपर नाचनेमें अपना गौरव अनुभव करती है।

यह संयोग सत्त्वाश्रित होनेपर सौन्दर्य एवं प्रेमके सम्मिलन-सा मनोहर, प्रकृति एवं पुरुषके सम्मिलन-सा पुनीत और काव्य एवं संगीतके सम्मिलन-सा अजेय हो उठता है।

बलकी चरम सीमा कहाँ है ?

शत्रुदल-भंजनमें, केशरीके साथ खेल खेलनेमें या फिर देश और धर्मके लिए हँसते-हँसते अपने प्राणोंकी आहुति देनेमें ?

नहीं, बलकी चरम सीमा वीरकी उस अविचल-मुसकानमें है, जो चारों ओर पराजय और पराभवका वातावरण उपस्थित होनेपर भी उसके

अरुण-अधर-मण्डल पर अपनी पुण्य-पुनीत प्रकाशमालाके साथ थिरका करती है ।

बर्बरताके राक्षसी ताण्डवके बीच चुनी जानेवाली दीवारमें आकण्ठ निमग्न गुरु गोविन्दसिंहके आत्मज सरल शिशुओंके अधर मण्डलपर विकसित होनेवाली अविचल स्मित रेखा, पर कौन सहृदय है; जो नेपोलियन और गैरीबाल्डी, राणाप्रताप और शिवाजी ही नहीं, विश्वकी समस्त वीर-गाथा सार न्यौछावर करनेमें हिचकेगा ?

विश्वके इतिहास-उपवनमें वीरता-वल्लरीके उदाहरण-सुमनोंकी कमी नहीं। एकसे एक सुरभित एवं एकसे एक सुन्दर, पर उनमें सर्वोत्कृष्ट एवं दिव्यताके नामसे उद्बोधित सुमनोंका विकास विजय-वैभवकी वरेण्य-वैजयन्तीकी ऊँची फहरानके पार्श्व देशमें नहीं हुआ, पराजयकी पुण्य-पराग-शाला ही उनका प्रसूतिगृह है ।

पश्चिम शरीर बलका उपासक है और भारत आत्मबलका। अपने-अपने क्षेत्र और समयमें दोनों ही बल खूब फले-फूले और विकासकी चरम सीमातक पहुँचे। प्राचीनतम अतीतके अनन्तर भी बुद्धके रूपमें भारतने एक बार फिर अपने पक्षकी उज्ज्वलता घोषित की, पर अभी विश्वके विशाल प्रांगणमें उसके पक्षकी सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित होनी अवशिष्ट थी कि प्रकृतिने गान्धीकी महासृष्टि की, जो युद्धकी पाशविकताको अहिंसाके साथ सफलतापूर्वक जोड़ एक सांस्कृतिक अनुष्ठानका रूप दे सका और यों भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें एक नया अध्याय जोड़नेमें सफल हुआ।

पुण्य पर्वतकी उस पिकनिकमें

कामसे थक जाऊँ या मानवके अमानवीय व्यवहारसे ऊब उठूँ, तो ताजगीके लिए दौड़कर प्रकृतिकी गोदमें जा पहुँचता हूँ। समय कम हो, तो खेतपर और ज्यादा हो, तो पर्वतकी गोदमें।

मुझे लगता है कि ये पर्वत ही हमारी संस्कृतिके प्रसूति-गृह हैं और यों मैं उनके वातावरणमें पहुँच, एक आध्यात्मिक आँचलकी छायाका स्पर्श पा पुलकित हो उठता हूँ। फिर जहाँ पुलक है, वहाँ थकान कहाँ, अवसाद कहाँ, निराशा कहाँ ?

यह है एक हिल-स्टेशन—पर्वतीय नगर, जिसमें मैं ठहरा हूँ। घूमता हूँ, देखता हूँ, सोचता हूँ; लिखता हूँ; बस यही मेरी पिकनिक है। कमरेकी पिछली खिड़कीसे झाँका, तो दिखाई दिया—दूर, एक साफ़-समतल मैदान, जिसके चारों तरफ देवदारुके वृक्ष ही वृक्ष। सोचा, वहाँ बैठकर कुछ लिखा जाय, तो बड़ा मजा रहे और बस आई फुरेरी, तो चल पड़ा।

घरके पासकी छोटी सड़क और उससे उतरती पगडण्डी। चला जा रहा हूँ रपटता-झपटता उचकता-कुदकता और यह लो मैं हूँ उस मैदानमें ! शान्त एकान्त वातावरण सचमुच कुटिया बनाने लायक स्थान है।

कुटिया आज निरादृत है और कोठी समादृत, पर कुटिया है संस्कृतिका केन्द्र और कोठी सभ्यताका। कुटियामें हम उपार्जन करते हैं और कोठीमें व्यय; पर कुटिया देशकी दुर्गतिके दिनोंमें अभावका प्रतीक बन गई; त्यागका मन्दिर न रही और यों हम सांस्कृतिक दिवालिया हो गये।

कुटिया और कोठीके विचार-चक्रपर जाने कबतक घूमता रहा, पर सूरज ढला, तो मैं चला। मस्तिष्कमें विचार अब भी हैं, पर बढ़ा जा रहा हूँ। बढ़ा क्या जा रहा हूँ, चढ़ा आ रहा हूँ घरकी ओर, पर यह क्या कि पसीना

आ रहा है और यात्रा बोझिल है। हरेक क़दम पहलेसे भारी हुआ जा रहा है, बात क्या है यह ?

ओह, यह स्थान खड्डमें है और अब मुझे चढ़ाई चढ़नी पड़ रही है। तो चढ़ रहा हूँ, थक रहा हूँ और सोच रहा हूँ—गिरना आसान है, उठना कठिन है। गिरनेमें सरलता है, देखती आँखोंमें सरसता भी है, पर उठने-में श्रम है, साधना है।

तभी एक प्रश्न पटबीजना-सा भीतर चमक उठा—क्या ऊपर उठनेके श्रममें, साधनामें, मिठास, रस और आनन्द नहीं है ? वह रूखी-सूखी ही चीज है ? शायद हो, पर अपने जीवनकी चौथाई शताब्दीसे भी अधिक लम्बी साधनामें मुझे तो कहीं रूखापन नहीं मिला; फिर भला मैं कैसे कहूँ कि साधना एक रूखी चीज है ? सिद्धि समाप्ति है, लीनता है, पर साधना तो मधुर ही मधुर है !

ठीक है, पर मुझे ऊपर जानेमें यह आनन्द क्यों नहीं मिल रहा है ? प्रश्न तो अपना ठीक है, ठीक जगह है, पर ना-ठीक लगता है, ठीक कहाँ है ? साधनाकी आत्मा है स्वेच्छा और मेरे इस ऊपर जानेमें स्वेच्छा नहीं, मजबूरी है—अनजाने यहाँ आ गया, अनचाहे ऊपर जा रहा हूँ, इसमें साधना कहाँ, यह तो बोझ है !

भक्त भगवान्‌की पूजामें लीन हो जाता है, अपूर्व आनन्द उसे मिलता है, पर एक पुजारीजी हैं। दोपहरको वे ताश जमाते हैं और शामको जब भगवान्‌की पूजाका तकाजा उनपर आता है, तो कभी-कभी कहा करते हैं—"उठो भाई, पहले पूजाका पाप काट आएँ !"

मैं भी ऊपर चढ़ रहा हूँ, पर चढ़ाईका पाप ही तो काट रहा हूँ ! फिर आनन्द कैसे मिले ?

× × ×

पगडण्डीसे चढ़ा चला आ रहा था कि ध्यान आ गया इस पगडण्डीमें कितने मोड़ हैं? कितने क्या, मोड़ ही मोड़ हैं; जैसे यह राह न होकर कोई चक्कर हो!

तभी जैसे भीतर किसीने कहा—जीवनमें भी तो मोड़ हैं इसी तरह; और तब जैसे जीवन और पथ दोनों मेरे सामने आ गये। मैं सोचता रहा—पथमें भी मोड़ हैं, जीवनमें भी मोड़ हैं।

—"पर क्यों हैं ये मोड़?" जिज्ञासाने पूछा और विवेकने उत्तर दिया—"पथमें मोड़ न हों, तो पथिक अपनी मंजिलतक कैसे पहुँचे और जीवनमें मोड़ न हों, तो मानव अपना लक्ष्य कैसे पाये, पगले!"

तब ठीक है—मैंने सोचा—मोड़ पथकी भी शक्ति है और जीवनकी भी; पर शक्ति जहाँ शक्ति है, वहीं एक खतरा भी है कि सदुपयोग हो, तो शक्ति निर्माणका साधन है और दुरुपयोग हो, तो विनाशका मोर्चा।

जीवन या पथके मोड़पर आते ही जहाँ आगे बढ़नेकी प्रवृत्ति पनपती है, वहाँ भटक जानेकी सम्भावना भी तो! यहाँ दिशाबोध आवश्यक है और यह दिशाबोध ही शक्तिका सदुपयोग है।

× × ×

चढ़ते ही चढ़ते सुना—सामनेकी पहाड़ियोंमें एक साधु रहता है और सर्दियोंमें, जब चारों ओर सूनापन छा जाता है, तो कभी-कभी वह दिखाई देता है।

जीवनकी यह कैसी स्थिति है कि न पास कोई अपना आदमी, न सुख-सुविधाका कोई साधन, बस पहाड़की सूनी कंदरा और उसमें निवास करता एक मनुष्य, जिसके पास अपनी एक लंगोटी भी नहीं—एकदम अकिंचन!

अकिंचन, तो क्या दयनीय? मेरी आँखोंमें घूम रहे हैं, वे दीन-भिखारी, जिनके पास कुछ भी नहीं होता—सचमुच दयनीय!

तो क्या साधु और भिखारी, दोनों एक ही चीज हैं? लगता तो यही है कि एक ही चीज हैं—उसके पास भी कुछ नहीं और इसके पास भी कुछ नहीं, पर देख रहा हूं अन्तर्यामी इसे ले नहीं पा रहा और उसके विद्रोहकी वाणी सुन रहा हूं—ना, ये दोनों एक नहीं हैं; एकके पास कुछ नहीं है और वह टुकड़ोंके लिए दर-दर भटकता है, पर एकके पास कुछ नहीं है, तब भी वह स्वर्गका अधीश्वर है।

डुबकी खाते-खाते मैं उभर आया हूं—हमारी महान् संस्कृतिका यह कैसा चमत्कार है कि मनुष्यकी दीनताकी चरम सीमा है अकिञ्चनता और उसके उत्कर्षकी चरम सीमा है अकिंचनता। अकिञ्चनताकी ही छायामें जी रहे हैं वे लाखों, जो मानव होकर भी नालीके कीड़ोंकी स्थितिमें हैं और अकिंचनताकी छायामें ही पनपे हैं—महावीर, बुद्ध और गान्धी!

सोच रहा हूं—यह दीनता दूर होती है और यह उत्कर्ष पनपता है और चला चला आ रहा हूं।

× × ×

पर्वतमालासे मैंने कहा—"तुम कितनी उदार हो कि मेरी जातिके हजारों लोगोंको अपनी गोदमें लिये रहती हो? क्या इसमें कष्ट नहीं होता?"

पर्वतमालाने कहा—"कष्टकी इसमें क्या बात! तुम देखते नहीं, आकाशदेव मुझे कितने प्यारसे अपनी गोदमें लिये हुए हैं?"

मैंने उन्नत आकाशकी ओर देखा। वह विश्वब्रह्माण्डको अपनी गोदमें लिये स्पर्श-सुखकी कोमल अनुभूतिमें लीन था।

× × ×

सन्ध्याका समय, सामनेके ऊँचे पर्वत-शिखरपर काले बादलका एक टुकड़ा और उसके किनारे डूबते सूर्यकी किरणोंके आलोकमें स्वर्णाभा; प्रकृतिकी कारीगरीका यह प्रदर्शन, यह अद्भुत प्रदर्शन!

पर्वत-सुन्दरी गोटेका चूनर ओढ़े किसीकी प्रतीक्षामें है या ताण्डव समाप्त कर इसमें झुककर नृत्यकी मुद्रामें स्थिर हो गई है ?

बादलका टुकड़ा नीचा हो गया है और वह स्वर्णरेखा ठीक शिखरपर आ लगी है। संध्याके झुट-पुटेमें हरित-श्यामल शिखर और शुद्ध स्वर्णकी यह मोटी रेखा। वातावरण शान्त, आँखोंमें स्वर्ण-प्रकाश और मन लीन।

क्या पुराण-वर्णित शिव ताण्डवकी यही प्रस्तावना है ?

× × ×

और यह लौट रहा हूँ मैं अपने घर—नगर। बसमें एक यात्रीको चक्कर आ गया, तो किसी अनुभवीने कहा—"आप दूर देखिए, पास देखनेसे ज्यादा चक्कर आते हैं।"

एक सरदारजीको जोरोंसे उबकाइयाँ आईं, तो दूसरे अनुभवीने कहा—"आप ऊपर देखिए, नीचे देखनेसे ज्यादा चक्कर आते हैं।"

मैंने दोनों अनुभवोंको मिलाकर सोचा—ठीक है, जीवनकी यात्रामें जो लोग नीचेकी ओर देखते हैं—विचारोंके नीचे धरातलपर आँख रखते हैं और जो लोग पास ही देखते हैं, संकीर्ण-दृष्टिका शिकार हो जाते हैं, उन्हें ऐसे चक्कर आते हैं कि वे यात्राका कुछ भी आनन्द नहीं ले पाते।

और अब मैं फिर अपने नगरमें था—इस युगमें यात्रा कितनी सुगम हो गई है ?